आनन्दामृतवर्षिणी

अर्थात्

भाषा में ब्रह्म-विद्या-निरूपण

श्रीमत्परमहंस परिव्राजक स्वामी आनंदगिरि-कृत

जिसमें

ब्रह्म-तत्त्व का निरूपण अति सुगम रीति से
किया गया है

आठवीं बार

लखनऊ

केसरीदास सेठ, सुपरिंटेंडेंट द्वारा

नवलकिशोर-प्रेस में मुद्रित और प्रकाशित
सन् १९२९ ई०

संशोधित संस्करण]

निवेदन ।

प्रस्तुत पुस्तक एक वेदांत-विपयक ग्रंथ है। इसमें ब्रह्म-विद्या की प्रक्रिया का निरूपण देश-भाषा में प्राचीन शिष्टाचारानुमोदित प्रणाली के अनुसार ग्रंथ के आदि में विषय, संबंध, प्रयोजन और अधिकारी के उल्लेखपूर्वक किया गया है। और, प्रत्येक विषय का निरूपण ऐसी पांडित्यपूर्ण शैली से किया है कि पाठकों को 'गागर में सागर' की कहावत सत्य सिद्ध होगी। केवल इस एक ही ग्रंथ के पठन और मनन करने से वेदांत-संबंधी अत्यावश्यक विषयों का ज्ञान भलीभाँति हो सकता है।

पुस्तक के पढ़ने के पूर्व, पाठकों के हृदय में, ग्रंथकर्ता का परिचय आदि जानने की अभिरुचि स्वभावतः उत्पन्न हो जाया करती है, अतः ग्रंथकार के द्वितीय ग्रंथ—अन्वय, शब्दार्थ और भावार्थ से परिष्कृत 'भगवद्गीता'[1] के उपोद्घात के आधार पर उनका संक्षिप्त परिचय लिखा जाता है—

इस 'आनन्दामृतवर्षिणी' के रचयिता, इस बीसवीं सदी के विद्वानों में अन्यतम, स्वनामधन्य श्री १०८ स्वामी आनन्दगिरिजी महाराज थे। आपने कुरुक्षेत्रान्तर्गत कपिस्थलनगर-निवासी, विद्वद्वरेण्य पंडित श्रीमोहनलालजी से विद्या प्राप्त करके, श्रीमत्परमहंस

१ यह ग्रंथ भी 'नवलकिशोर प्रेस' में प्रकाशित हुआ है।

परिव्राट् श्री १०८ स्वामी मलूकगिरिजी से दीक्षा ग्रहण करके और चिरकाल तक उन्हीं के पास रहकर 'वेदान्त-शास्त्र' के दुरूह सिद्धान्तों का परिशीलन भी किया था। तदनन्तर आपने गंगा-यमुना के मध्यवर्ती, पूर्व-दिशा की ओर बाईस कोस पर अवस्थित, श्रीकन्दरापुरी (प्रसिद्ध सिकन्दराबाद)-निवासी, सर्व-स्वामिगुणोपेत श्रीयुत मुंशी वंशीधरजी भटनागर कायस्थ की सविनय प्रार्थना से, उनके स्थान (उपवन की कोठी) में ठहरकर गुजरात-निवासी, वेदान्त-शास्त्र के अद्वितीय विद्वान् श्री १०८ स्वामी आत्मागिरिजी महाराज की सहायता से इस 'आनन्दामृतवर्षिणी'-नामक ब्रह्म-विद्या-विषयक निबंध का निर्माण किया था। इस पुस्तक की उपयोगिता का यह एक प्रत्यक्ष प्रमाण है कि यह इसका आठवाँ संस्करण है, जो इस बात को सिद्ध करता है कि धार्मिक जगत् में धर्मजिज्ञासुओं द्वारा इस पुस्तक का यथोचित आदर हुआ है।

ग्रंथकार ने इसके अन्त में श्रीशङ्कराचार्यजी-रचित "मणिरत्नमाला" अर्थात् 'प्रश्नोत्तरी' तथा "पञ्चदशी" के चुने हुए कुछ श्लोक दिए थे। उन्हें मैंने भाषा-टीका सहित कर दिया है। प्रयोजन यह कि इस बार यह उपादेय ग्रंथ एक नवीन शैली से संशोधन करके, पाठकों के कर-कमलों में अर्पित किया गया है। आशा है, वे इसका मान पहले से अधिक करेंगे।

संशोधन-विभाग
नवलकिशोर-प्रेस, लखनऊ

निवेदक—
गोकर्णदत्तत्रिपाठी

स्वामी — धर्मानन्द तीर्थ स्मारक

आनन्दामृतवर्षिणी का सूचीपत्र।

इति प्रथमाध्यायः।

अथ द्वितीयाध्यायः।

अध्याय	विषय	पृष्ठ
२	जाग्रदादि अवस्थाओं में विश्वादिकों का निरूपण. ...	४०
,,	विराड्आदि की उपासना से विराड्आदि का होना. ...	४१
,,	प्रणवादि उपासना को लेकर पाषाणादि मूर्त्ति पर्यन्त उपासनाओं का निरूपण.	,,
,,	भेद उपासना व अभेद उपासना का स्वरूप. ...	४२
,,	मणिप्रभा से लेकर अनेक दृष्टान्तों का वर्णन. ...	,,
,,	ब्रह्म का तटस्थ लक्षण कहकर अपवाद को कहना. ...	,,
,,	शुक्ति में रजत का अभाव.	,,
,,	ब्रह्म से व्यतिरेक सारे प्रपञ्च का अभाव निश्चय करना.	,,
,,	अन्वय व्यतिरेक से ब्रह्ममात्र का निश्चय. ...	४३
,,	तीनों अवस्था में अन्वय व व्यतिरेक का ज्ञान. ...	,,
,,	युक्तियों से जगद्बाधन का क्रम व मेलन. ...	,,
,,	मृगतृष्णा का निरूपण.	४४
,,	महावाक्य के श्रवण से अपरोक्ष ज्ञान का कहना ...	४५
,,	अध्यारोप, अपवाद से 'तत्त्वमसि' पदार्थों का निरूपण.	,,
,,	माया से ले प्रपञ्चजड़, चैतन्य व अनुपहित चैतन्य का तप्त लोहपिण्डवत् होना तत्पद का वाच्यार्थ. ...	,,
,,	अखण्ड चैतन्य से तत्पद का लक्ष्यार्थ.	,,
,,	त्वंपद का वाच्यार्थ लक्ष्यार्थ.	,,
,,	जहदजहल्लक्षणा से तत्त्वमसि महावाक्य का बोधन. ...	,,
,,	सामानाधिकरण्य, विशेषण विशेष्यभाव लक्ष्य लक्षणभाव	,,
,,	का निरूपण.	४६
,,	महावाक्यार्थ को बुद्धि में न बैठने तथा विरुद्ध प्रतीत होने पै लक्षणा, शक्ति व व्यञ्जनादि से निश्चय करना. ...	,,
,,	जहल्लक्षणा, अजहल्लक्षणा तथा व्यञ्जना का सोदाहरण निरूपण.	,,
,,	तत्, त्वंपदों से शुद्ध चैतन्य का अधिकरण. ...	४७
,,	तत्, त्वंपदों का सामानाधिकरण्य.	,,
,,	तत्, त्वंपदों का या त्वं, तत् पदों का विशेषण विशेष्यभाव.	,,
,,	तत्, त्वंपदों का लक्ष्य लक्षणभाव सम्बन्ध. ...	,,

इति द्वितीयाध्यायः ।

अथ तृतीयाध्यायः ।

इति तृतीयाध्यायः ।

अथ चतुर्थाध्यायः ।

इति चतुर्थोऽध्यायः।

इति षष्ठाध्यायः ।

अथ सप्तमाध्यायः ।

इति सप्तमोऽध्यायः।

अथाष्टमोऽध्यायः।

इत्यष्टमाध्यायः।

अथ नवमाध्यायः।

इति नवमोऽध्यायः।

अथ दशमाध्यायः।

श्रीगणेशाय नमः

आनन्दामृतवर्षिणी

अर्थात्

भाषा में ब्रह्म-विद्या-निरूपण

पहला अध्याय

मंगलाचरण[1]

(१)

श्रीसच्चिदानन्दस्वरूप[2] जो इन्दिरेश्वर ; इन्दीवर (नीलकमल) और इन्द्रमणि (नीलम) के तुल्य सुंदर, तथा रमा द्वारा लालित

१—ग्रंथ के आदि, मध्य और अंत में निर्विघ्न-परिसमाप्ति और आस्तिक-मार्ग की प्रवृत्ति के लिए शिष्टाचारानुमोदित और श्रुति-बोधित आशीर्वाद, नमस्कार और वस्तु-निर्देश के भेद से तीन प्रकार का मंगलाचरण होता है। इस प्रस्तुत-ग्रंथ में नमस्कारात्मक मंगलाचरण है।

२—श्री—लक्ष्मी, शोभा और माया को कहते हैं, इसलिए तीनों पदों के द्वारा अर्थ होता है कि सच्चिदानंद लक्ष्मी, शोभा और माया के स्वामी हैं अर्थात् माया करके युक्त हैं। सच्चिदानंद में सत्, चित् और आनंद ये तीन पद हैं। अब यह विचार करना चाहिए कि इन तीनों पदों के देने का क्या कारण है। यदि केवल 'सत्' पद कहा जाता, तो न्यायशास्त्रवाले आकाश को भी 'सत्' कहते हैं, जोकि जड़ है, इसलिए 'चित्' पद भी कहा गया। वह भी दुःखरूप किंवा आनंदरूप है इसलिए 'आनंद' पद भी कहा गया है।

सत्ता भी व्यावहारिकी और पारमार्थिकी भेद से दो प्रकार की है। व्यावहारिकी सत्ता देह आदि में और पारमार्थिकी सत्ता सच्चिदानन्द ब्रह्म में है। प्रकृत में केवल पारमार्थिकी सत्ता से प्रयोजन है। इसी प्रकार चैतन्यता और आनन्दता भी व्यावहारिकी और पारमार्थिकी भेद से दो प्रकार की कही गई है।

हैं पाद[1]पंकज जिनके ऐसे जो रामेश्वर; बंदी अर्थात् क़ैदी बना लिया है इन्द्र के शत्रुओं के वृंद (समूह) को जिन्होंने ऐसे जो सुरेश्वर; आनंद है वीर्य जिनका ऐसे जो परमेश्वर; मंद-मुसुकान द्वारा आनंदित किया हैं लोकों के वृंद को जिन्होंने ऐसे जो नंदजी के नंदन; आत्मरूप द्वारा चिन्तवन करते हैं जिनका ऐसे जो सनातन, सनत्कुमार, सनक और सनंदन एवं भक्तों के कल्याण के लिए चंद्र-वंश में है अवतार जिनका ऐसे जो श्रीकृष्णचन्द्र श्रीवसुदेवजी के नंदन उनको मैं प्रणाम करता हूँ।

(२)

हे अमरवर! आपके गुणों[2] की महिमा का पार न जाननेवाले मेरे-जैसे अल्पज्ञ की स्तुति के अयोग्य होने में क्या आश्चर्य है क्योंकि ब्रह्मा आदि देवताओं की वाणी भी आपकी स्तुति करने में असमर्थ है। अर्थात् आपकी महिमा अपार है, इस कारण उसका यथार्थ वर्णन होना बहुत ही कठिन है। किंवा यह विचार करें कि अपनी अपनी बुद्धि के अनुसार स्तुति करनेवाले सब लोग निर्दोष हैं, तो हे दीनार्तिहर! इस 'आनन्दामृतवर्षिणी' ग्रंथ के रचने में मेरा प्रयत्न भी स्व-बुद्धि-वैभव के अनुसार स्तुति-विषयक होने के कारण सर्वथा निर्दोष है।

१—इन्दीवर और इन्द्रमणि इन दोनों विशेषणों के देने का प्रयोजन यह है कि श्रीवसुदेव-नंदन श्रीकृष्णचन्द्रजी के पादपंकज, भक्तों के लिए इन्दीवर के सदृश कोमल तथा दुष्टों के लिए इन्द्रमणि के सदृश कठिन हैं।

२—परमेश्वर के गुण निर्गुण-सगुण भेद से दो प्रकार के हैं। पहले (निर्गुण) में भी नञ् (निषेध) और प्रतिपादन द्वारा दो भेद हैं। जैसे अज, अव्यक्त, अद्वैत और अमर आदि निषेध द्वारा और दूसरे सत्, चित और आनन्द आदि प्रतिपादन द्वारा कहे जाते हैं। दूसरे सगुणब्रह्म राम, कृष्ण आदि के गुण श्याम, शान्ताकार, करुणाकर और भक्तवत्सल आदि होते हैं।

(३)

हे भगवन् ! आपकी महिमा मन और वाणी का विषय नहीं, क्योंकि वेद भी, अतद्व्यावृत्ति[1] के द्वारा चकित होकर आपकी महिमा का वर्णन करते हैं अर्थात् आपकी महिमा वाणी और मन से परे है, इसलिए वह तद्द्वारा नहीं जानी जा सकती। इसके अतिरिक्त जो 'अतद्' अर्थात् अविद्या, इससे आपकी महिमा व्यावृत्त अर्थात् परिच्छिन्न है, इसलिए वेद भी उसे डरते-डरते प्रकट करते हैं अर्थात् 'यथार्थ वर्णन हुआ या नहीं' यह संदेह उन्हें भी रहता है। ऐसी आपकी महिमा, गुणों की संख्या और उसकी अवधि का निर्णय कौन कर सकता है ? एवं आपकी महिमा का प्रत्यक्ष-दर्शन किसे हो सकता है। प्रयोजन यह कि निर्गुण स्वरूप आपके परमार्थ का ज्ञान होना बहुत ही कठिन है। परंतु अर्वाचीन-पद[2] जो आपका सगुण-रूप है, उसमें सबकी वाणी और मन का प्रवेश होता है अर्थात् सगुण-रूप सर्व-ग्राह्य और निर्गुण-रूप सर्वथा दुर्ग्राह्य है।

(४)

संसार में आत्महत्यारे को छोड़कर तीन प्रकार के मनुष्य होते हैं—युक्त, मुमुक्षु (मुक्ति की इच्छावाले) और विषयी। मुक्त—

१—न तत्, अतत्—अर्थात् तद्तिरिक्ता अविद्या, तथा व्यावृत्तिः, अर्थात् मायया पृथग्भूतं ब्रह्मेति व्यावृत्तिः, अतद्व्यावृत्तिः। अर्थात् सर्वं खल्विदं ब्रह्म, अविद्यया परिच्छिन्नमिव तिष्ठति, सा चैव, तस्य व्यावृत्तिः। (व्यावृत्तिः, वृतु वर्तने वि + आ + वृत् + क्तिन्)। अथवा अतदो व्यावृत्तिः-पर्युदासः, निवारणम्-अतद्व्यावृत्तिः। इसका अर्थ मूल में 'अर्थात्' द्वारा स्पष्ट कर दिया गया है।

२—जिसके द्वारा जाना जावे उसे पद कहते हैं। ब्रह्म के दो पद हैं—अवर अर्थात् सगुण और पर अर्थात् निर्गुण। अवर-पद का पर्याय-वाचक अर्वाचीन पद भी है।

शुक, सनक आदि ज्ञानी जन हैं । वे निरन्तर आपके गुण-कीर्तन द्वारा ब्रह्मानन्द का अनुभव करते हुए विचारते हैं कि ब्रह्मानन्द-प्राप्ति ही परमेश्वर की कृपा है । दूसरे मुक्ति की इच्छावाले हैं, उन्हें संसार-रूप रोग की निवृत्ति के लिए केवल परमेश्वर का गुणानुवाद ही परम ओषधि प्रतीत होता है । तीसरे विषयी जन हैं, उन्हें आपके ही विहार आदि के चरित्र परम-प्रिय प्रतीत होते हैं । इसलिए हे भक्तवत्सल, भगवन् ! परमानन्द-जनक और माधुर्य-गुण-विशिष्ट वाणी के निर्माण करनेवाले आपको, बृहस्पतिजी की वाणी भी आश्चर्य-जनक नहीं हो सकती, ऐसी दशा में हमारी कौन गिनती । परंतु मैं आपके गुण-वर्णन के पुण्य से अपनी वाणी को पवित्र करने के लिए आपकी स्तुति में प्रवृत्त होकर आशा करता हूँ कि आप बाल-हठ जानकर क्षमा-प्रदान करेंगे ।

मंगलाचरण समाप्त ।

विद्वानों से प्रार्थना ।

विद्वान् सज्जनों की सेवा में प्रार्थना है कि यदि कहीं मेरी भाषा में श्रुति, स्मृति और वेदान्त-शास्त्र से विरोध तथा पुनरुक्त-दोष, प्रकरण और संदर्भ की असंगति प्रतीत हो अथवा अर्थ स्पष्ट न हो, तो कृपापूर्वक उसको ठीक करके मेरी भूल-चूक को क्षमा करें और शुद्ध अन्तःकरण से आशीर्वाद दें कि मेरा रचा हुआ यह ब्रह्म-विद्या-निरूपक 'आनन्दामृतवर्षिणी-नामक' भाषा का निबंध मुमुक्षु जनों को यथोचित फल-दायक हो । क्योंकि भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजी ने गीता-शास्त्र में कहा है:—

य इदं परमं गुह्यं मद्भक्तेष्वभिधास्यति ।
भक्तिं मयि परां कृत्वा मामेवैष्यत्यसंशयः ॥
न च तस्मिन्मनुष्येषु कश्चिन्मे प्रियकृत्तमः ।
भविता न च मे तस्मादन्यः प्रियतरो भुवि ॥

(अध्याय १८, श्लो० ६८–६९)

अर्थात् जो भक्त मेरे में अर्थात् ईश्वर में प्रेम रखनेवाले को इस ज्ञान का उपदेश करेगा, वह अवश्य मुझको अर्थात् ईश्वर को पावेगा। और जो इस मेरे कहे हुए ज्ञान को लोगों से कहेगा, उपदेश करेगा, उससे अधिक मुझको कोई प्यारा न है और न होगा ॥ ६८–६९ ॥

तथा श्री १०८ स्वामी विद्यारण्यभारतीतीर्थजी ने पञ्चदशी में कहा है:—

तच्चिन्तनं तत्कथनमन्योन्यं तत्प्रबोधनम् ।
एतदेकपरत्वं च ब्रह्माभ्यासं विदुर्बुधाः ॥

(ब्रह्मानन्दे अद्वैतानन्दप्रकरण, श्लोक ८३)

अर्थात् ब्रह्म का ध्यान, उसकी कथा, दूसरों को उसे समझाना और एक ब्रह्म में ही परायण रहना, इसी को बुद्धिमान् मनुष्य ब्रह्माभ्यास कहते हैं । प्रयोजन यह कि मनुष्य अपनी बुद्धि के द्वारा जिस प्रकार क्रमशः अधिकता से नाम-रूपों में सच्चिदानन्द को देखता है, उसी भाँति नाम-रूप का त्याग होता है तथा जिस प्रकार क्रमशः अधिकता से नाम-रूप का त्याग होता है उसी भाँति सच्चिदानंद का ग्रहण होता है । उस सच्चिदानंद का चिन्तन, उसका कथन, उसको परस्पर समझना-समझाना और एक उसी में तत्पर रहना ब्रह्माभ्यास कहलाता है । इस ब्रह्माभ्यास से मनुष्य जीता हुआ ही मुक्त रहता है, शरीर चाहे किसी दशा में हो । जब निरंतर बहुत दिनों तक आदर के साथ ब्रह्माभ्यास किया जाता है, तब चिरकालिकी संसारी वासना सर्वथा दूर हो जाती है । इसी उद्देश से इस ग्रंथ की रचना की है कि इसके पठन और मनन करने से वेदांत-संबंधी अत्यावश्यक विषयों का ज्ञान भलीभाँति हो सके ।

सहायभूत ग्रंथों और अधिकारियों का उल्लेख ।

पञ्चदशी, वेदान्तसार, तत्त्वानुसन्धान, श्रीमद्भगवद्गीता सटीक और आत्मबोध आदि ग्रंथ समीप रखकर जितनी मेरी बुद्धि थी, विचार-पूर्वक सरल और स्पष्ट अर्थ जो बालकों की समझ में आवे, इस "आनन्दामृतवर्षिणी" में लिखा है । बुद्धिमान् लोग कुतर्क त्यागकर इसे एक बार श्रद्धा-भक्ति द्वारा चित्त को एकाग्र करके वेद-शास्त्र के तात्पर्य को जाननेवाले और ब्रह्मनिष्ठ सद्गुरुओं से सुनें । क्योंकि जो केवल वेदशास्त्रार्थ के जाननेवाले हैं और ब्रह्मनिष्ठ नहीं वे विज्ञान-अनुभव नहीं कह सकेंगे । और जो केवल ब्रह्मनिष्ठ हैं, वे युक्तियों और दृष्टान्तों को शंका-समाधान-पूर्वक

नहीं कह सकेंगे। प्रयोजन यह कि वेदशास्त्रार्थ के जाननेवाले और ब्रह्मनिष्ठ सद्गुरुओं से सुनना उचित है।

इसमें जो अनुष्ठान कहा गया है, उसे सुननेवाले की इच्छा हो करे, या न करे। तात्पर्य यह कि जो सुनेगा, वह अपने आनन्द के लिये अवश्य अनुष्ठान करेगा। इस पर एक दृष्टान्त कहते हैं:—

एक राजा था, वह कभी पंडितों को कुछ न देता था, और न कभी कथा-वार्ता ही सुनता था। कुछ दिनों के बाद एक विद्वान् उसकी राजधानी में आया, और वहाँ के पंडितों से कहा कि आप लोग राजा साहब से निवेदन करें कि हे राजन्! आप इनकी कथा सुनें, चाहे आप धन दें या न दें। वहाँ के पंडितों ने उत्तर दिया कि हे महाराज! अनधिकारी से कौन माथा-पच्ची करे क्योंकि—

"प्रयोजनमनुद्दिश्य न मन्दोऽपि प्रवर्तते"

अर्थात् प्रयोजन के विना किसी कार्य में मंद अर्थात् मूर्ख भी प्रवृत्त नहीं होता। इस न्याय के अनुसार हम लोग जान-बूझ कर अज्ञान से कलुषित हृदयवाले राजा से कुछ भी निवेदन नहीं कर सकते। इस पर आगन्तुक विद्वान् ने दृष्टांत दिया कि यदि केलि-गृह में सोलह वर्षवाली तरुण स्त्री किसी प्रकार प्राप्त हो जाय, फिर वह मैथुन की इच्छा करे या न करे। प्रकृत में दृष्टांत और दार्ष्टांत विचारिए कि क्या वह राजा पाषाण (पत्थर) है जो पंडितों की कथा सुनकर भी मुक्ति के लिए धर्म-दान आदि न करेगा? और क्या वह स्त्री पत्थर की है कि उसको ऐसे निर्जन-स्थान में भी अपने आनन्द के लिए कामदेव का आविर्भाव न होगा? एवं इस ग्रंथ का सुननेवाला क्या पाषाण होगा, जो

निरतिशय[1]-आनन्द के लिए मुक्ति-साधक उपायों का अनुष्ठान न करेगा ।

इस "आनन्दामृतवर्षिणी" में जो अर्थ लिखना है उसकी संगति के लिए पहले 'उपोद्घात'[2] लिखते हैं ।

जो एक चैतन्य महानंद शुद्धब्रह्म नित्यमुक्त, सो मायोपहित हुआ—ईश्वर १, और वह चैतन्य समष्टि सूक्ष्म उपाधि करके उपहित—हिरण्यगर्भ २, और वही चैतन्य समष्टि स्थूल उपाधि करके उपहित—विराट् ३, इन तीन भावों को प्राप्त होता भया। और वही चैतन्य अविद्योपहित हुआ—प्राज्ञ १, और व्यष्टि सूक्ष्म उपाधि करके उपहित—तैजस २, और व्यष्टि स्थूल उपाधि करके उपहित—विश्व ३, इन तीन भावों को नाना प्रकार का जीव होता भया। फिर ईश्वर जीवों के धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के लिए सृष्टि, स्थिति और संहार को करते भये। धर्मादि में मोक्ष मुख्य है, और तीन धर्मादि गौण हैं। और धर्मादि तीन के दो-दो फल हैं। मुख्य फल परम्परा करके तीनों का मोक्ष है, और स्वर्गादि गौण हैं। धर्म का मुख्य फल मोक्ष है, और स्वर्गादि गौण हैं। स्वर्गादि फल जो वेदों में कहे गये हैं, वे ऐसे हैं—जैसे बालक की शोभा के लिए कान छेदन कराना, और मोदकादि का फल कथन कर देना। अभिप्राय तो उनका जो है, सो है। श्रुति—माता के सदृश हित चाहनेवाली है। जैसे—किसी का पुत्र रास्ते की मृत्तिका खाया करता था। उसकी माता ने उसको बहुत बरजा उसने न माना,

---

१—जिस आनन्द से बढ़कर ब्रह्म-लोक आदि में भी आनन्द न हो उसे 'निरतिशय-आनन्द' कहते हैं।

२—वांछित अर्थ को मन में रखकर, प्रकृत-अर्थ की सिद्धि के लिए जो विचार किया जाता है, उसे उपोद्घात कहते हैं।

अन्त में हारकर माता ने कहा, हे पुत्र! यों गंगाजी की मृत्तिका खाया कर, बहुत सुंदर है। विचारो, माता का अभिप्राय गंगाजी की मृत्तिका के खिलाने में नहीं है, किंतु रास्ते की मृत्तिका के वर्जने में उसका अभिप्राय है। ऐसे ही जो मूर्ख जीव रास्ते की मृत्तिका की नाईं शब्दादि विषयों को इष्ट जानता है उसे श्रुति ने यों समझाया कि इन विषयों से तो स्वर्गादि अच्छे हैं। तात्पर्य तो श्रुति का मुक्ति में है, इसी हेतु मोक्ष मुख्य है और उपासना इसलिये है—

किसी का पुत्र जगह-जगह वृथा फिरता था, समेसिर नहीं हाथ आता था। उसके पिता ने विचारकर पुत्र से कहा कि तू इस मकान पर बैठा रहा कर, और कुछ उसको लालच भी दे दिया। तात्पर्य यह कि जब काम पड़ेगा, यहाँ से बुला लूँगा।

वैसे ही यह मन कहीं यज्ञ-दानादि के फल स्वर्गादि में, कहीं शब्दादि विषयों में, मृगतृष्णावत् भूला हुआ भागा-भागा फिरता था, कभी शांत नहीं होता था कि आत्मस्वरूप का विचार करे, इसलिये श्रुति में एकाग्रचित्त के लिये उपासना कही गई है। विचार करके देखो कि एकाग्रचित्त के बिना श्रवण, मनन और निदिध्यासन ये जो मुख्यसाधन मुक्ति के हैं, सो नहीं हो सकते हैं।

इसी प्रकार अर्थ जो अशरफ़ी, रुपया आदि करके जगत् में प्रसिद्ध होना, और जगत् के सुख-संपादन करना गौण है। और रुपया आदि खर्च करके धर्म करना, कथा-श्रवण करना, संतों का संग करना और तीर्थों का सेवन करना, इनका मुख्य फल भी परंपरा करके मोक्ष है।

ऐसे ही काम अर्थात् अपने सुख के लिये खाना-पीना और आनंद के लिये स्त्री का संग और स्थान वस्त्र आदि में जो सुख-

बुद्धि सो गौण और भोजनादि वास्ते धर्म के, और श्रवणादि के लिये शरीर की रक्षा करनी, और स्त्री का संग वास्ते पुत्र की उत्पत्ति के, वह भी किसी अंश में मुक्ति का हेतु है । इसका भी परंपरा करके मुख्य फल मोक्ष है ।

तात्पर्य यह कि संसार में पुरुषार्थ मुख्य मोक्ष है। वे जो अविद्योपहित जीव उनमें से श्रुति-स्मृति जो परमेश्वर की आज्ञा है, उनको जो करते भये, उनकी उपासना के लिये जैसी उनको मूर्त्ति परमेश्वर की वांछित हुई, वही मायोपहित ईश्वर, ब्रह्मा, विष्णु, महेश, सूर्य, शक्ति और गणेशादि मूर्त्ति को धारण करते भये, सो मूर्त्तियाँ कैलास वैकुण्ठादि में और भक्तों के हृदय में सदा वास करती रहती हैं । वे जो विष्णु भगवान् हैं, सो भक्तों के उद्धार के लिये, जो ऐसे भक्त हैं कि सदा जो परमेश्वर की आज्ञा, उसके करके शुद्ध किया है अन्तःकरण जिन्होंने और शम दम आदि साधनों करके युक्त मोक्ष की इच्छावाले, परंतु बहुत गंभीर, जो ऋक्, यजु, साम और अथर्वण वेद, उनके विचारने में असमर्थ और विना विचार के ज्ञान नहीं होता है—जैसे पदार्थ का भान विना प्रकाश के, इसलिये उनको ब्रह्मतत्त्व विचारने के लिये श्रीकृष्णचन्द्र अवतार लेकर, चारों वेदों का अर्थ, जोकि मुख्य मोक्ष का साधन है, अर्जुन के निमित्त करके, गीता-शास्त्र रचते भये और वे ही विष्णु व्यासदेव का अवतार लेकर भागवत आदि पुराण, भारत आदि इतिहास रचते भये । जिनमें कर्म, उपासना और ज्ञान तीनों हैं । प्रसंग से गीता को भी महाभारत के बीच में लिखा और जो वेदान्त और वेदों का सिद्धान्त, जिसको वेदों का मस्तक कहते हैं, उस सिद्धान्त को फिर सूत्रों में कथन करते भये। तात्पर्य यह कि कई-कई श्रुतियों का अर्थ एक-एक सूत्र में

संक्षेप करके कहा । वे जो सूत्र और गीता-शास्त्र, उनका जो अर्थ, सो भी बहुत गम्भीर और परमेश्वर का अभिप्राय परमेश्वर जानें, या जिस पर उनकी कृपा हो, वह जाने । तदनंतर कलियुग के मनुष्यों ने हठ करके पंडिताई के बल से अपने-अपने मत में व्यास-सूत्र और गीताजी का अर्थ बना लिया । जो अभिप्राय श्रीकृष्णचन्द्र और व्यासदेवजी का था, वह सिद्ध न हुआ । ज्ञान-काण्ड जो साक्षात् मुक्ति का हेतु था, लोप होगया । तब सब देवता, विष्णु, ब्रह्मा आदि जुरकर श्रीमहादेवजी के पास गये और सारी व्यवस्था कही । महादेवजी ने कहा कि हम वेद-मार्ग की प्रवृत्ति के लिये अवतार लेंगे, आप सब भी ब्रह्मा इन्द्र आदि अवतार लो । फिर महादेवजी महाराज तो श्रीशंकराचार्य नाम करके और विष्णुजी सनंदन नाम करके और ब्रह्माजी मंडनमिश्र नाम करके, सरस्वतीजी के सहित और इन्द्र सुधन्वा राजा नाम करके, तात्पर्य इसी प्रकार बहुत देवता अवतार लेते भये, क्योंकि जब ज्ञानकाण्ड का लोप होता है, तब महादेवजी अवतार लिया करते हैं और सब मतवालों से शास्त्रार्थ करके सब झूठे मतों का खण्डन करके, जो सार सिद्धान्त वेद भगवान् का है, उसका स्थापन किया करते हैं । राजा का अवतार इसलिये हुआ कि जो शास्त्रार्थ में झूठा कुतर्क और हठ करेगा और शास्त्रार्थ में जिसका मत खण्डित होजावे और वह दुराग्रह से न मांने, अथवा बहुत जुरकर सामना करें, तो राजा उनको दंड देगा । अवतार लेने के बाद पाँच-छः वर्ष की अवस्था में श्रीशंकराचार्यजी ने संन्यास लेकर, १६ वर्ष की अवस्था में, १६ भाष्य रचे । १० उपनिषदों पर, ११ वाँ व्यास-सूत्रों पर भाष्य, १२ वाँ शारीरिक-भाष्य, विष्णु-सहस्रनाम-भाष्य, गीता-भाष्य, सनत-सुजात-भाष्य, नृसिंह-

तापिनी-भाष्य । तात्पर्य यह कि उपनिषद् गीता आदि का अ
भले प्रकार श्रुति, स्मृति, युक्ति, दृष्टांत और प्रमाण दे देकर सि
किया । और जिन्हें गीता-भाष्य आदि के विचारने में असम
देखा, उनके लिये आत्मबोधादि छोटे-छोटे प्रकरणों में वही अ
संक्षेप करके लिखते भये । फिर सब वादियों को शास्त्रार्थ में ज
करके दिग्विजय करते भये । जो वेदों का सार सिद्धांत था, उसक
प्रकट प्रचार करते भये । ऐसा-ऐसा शास्त्रार्थ हुआ कि चाली
दिन तक मंडनमिश्र से चर्चा रही । मंडनमिश्र की स्त्री सरस्वतीज
का अवतार और शास्त्रार्थ-साक्षी थीं । उसने पुष्पों की माला
दोनों के गले में डाल दी थीं और कह दिया था कि जिस
माला सूखेगी, वही हारेगा । चालीस दिन के पीछे मंडनमिश्र
माला सूख गई । इसी प्रकार बहुत जगह शास्त्रार्थ हुआ, औ
चारों दिशाओं में महाराज गये, उनके अबतक ज्योयशी आदि म
चारों दिशाओं में विद्यमान हैं । और कपाली आदि ने जो साम
किया, उन्हें कुछ महाराज ने मंत्रों से मारे, कुछ राजा ने मारे
विस्तार इस कथा का तीन दिग्विजय ग्रंथ हैं, उनमें बहुत है
तात्पर्य यह है कि जो अच्छे बुद्धिमान् हैं, उनके लिये तो शारीरक
भाष्य आदि बड़े-बड़े ग्रंथ रचे, और जो मंद-बुद्धि हैं, उनके लि
आत्मबोध आदि छोटे-छोटे प्रकरण रचकर, ३२ वर्ष की अवस्थ
में महाराज तो कैलास को जाते भये । तदनन्तर पद्मपाद आ
जो महाराज के मुख्य शिष्य थे, उन्होंने भी बहुत ग्रंथ रचे
स्वामी आनन्दगिरिजी ने तो सब भाष्य आदि ग्रंथों पर टीक
की और सुरेश्वराचार्य महाराज ने वार्त्तिक बनाया । उनके बा
स्वामी शंकरानन्द भगवान् और विद्यारण्यादिजी ने आत्म-पुराण
और पंचदशी, वेदान्तसार आदि सहस्रों ग्रंथ रचे । वे ग्रंथ अबतक

तो परमेश्वर की कृपा से सूर्यवत् इस लोक में प्रकाश कर रहे हैं।

प्रथम ज्ञान के मुख्य चार साधन हैं, उनको लिखते हैं—

१–विवेक, २–वैराग्य, ३–शम आदि षट्सम्पत्ति और ४–मुमुक्षुता। अर्थ इनका यह है—

१–इस संसार में नित्य अनित्य क्या है? और विचार करते-करते यह निश्चय होता है कि आत्मा नित्य, और आत्मा से पृथक् सब अनित्य है। २–यहाँ के देखे-सुने जो पदार्थ स्त्री, चन्दन, माला आदि और परलोक के जो सुने, अमृत, नंदन-वन, देवांगना आदि सबको अनित्य और दुःखदायी जानकर मन की इच्छा-पूर्वक सबको त्याग देना, फिर उनमें दीनता न होनी, ब्रह्मलोक को तृणवत् जानना। तीसरे में छः भेद हैं—

१–शम, २–दम, ३–उपराति, ४–तितिक्षा, ५–श्रद्धा और ६–समाधान। इनका अर्थ यह है कि वेदांत-शास्त्र के श्रवण, मनन और निदिध्यासन के विना मन आदि अंतःकरण की संकल्प आदि वृत्तियों को रोकना। देह-यात्रा और श्रवणादि के विना श्रोत्रादि इन्द्रियों को शब्दादि विषयों से रोकना। *यम-नियमादि साधनों से अंतःकरण को निरोध करके सब लौकिक-वैदिक कर्मों से उपराम होना, ब्रह्म-तत्त्व विचारने के लिये देह-यात्रा-मात्र क्रिया करनी, और जाग्रत् अवस्था सुषुप्तिवत् रहनी, इसीका नाम उपरति है। श्रवणादि में जो जो दुःख-सुख पड़े, सबको सहना।

---

* १–अहिंसा, २–चोरी न करनी, ३–सत्य बोलना, ४–ब्रह्मचर्य, ५–अपरिग्रह अर्थात् शरीर-यात्रा के सिवाय संग्रह न करना, इन पाँचों का नाम यम है। और १–शौच, २–संतोष, ३–तप और ४–स्वाध्याय अर्थात् प्रणव का जप, और ५–ईश्वर-प्रणिधान अर्थात् परमेश्वर में भक्ति, इन पाँचों का नाम नियम है।

जो वेदांत-शास्त्र और गुरुज्ञान के देनेवाले कहते हैं, उनमें विश्वास करना कि इसी प्रकार है । श्रवणादि के समय भले प्रकार चित्त को समाधान करना । इस प्रकार तीसरे साधन के भेद होचुके, चौथे साधन का यों अर्थ है कि मुक्ति को मुख्य पुरुषार्थ समझकर मुक्ति की नित्य इच्छा रखनी ।

मुक्ति के थे चार साधन मुख्य हैं, और सब साधनों का इनमें अन्तर्भाव है । जो इनका भले प्रकार अनुष्ठान करे, तो और किसी साधन की अपेक्षा नहीं है, यही सब साधनों का तत्त्व है ।

ग्रंथ में जो चार अनुबंध होते हैं, उनको लिखते हैं । १—अधिकारी, २—विषय, ३—संबन्ध, ४—प्रयोजन, इन्हीं चार साधनों करके जो सम्पन्न हो, सो इस ग्रंथ के पढ़ने-सुनने का अधिकारी है । जीव-ब्रह्म की एकता इसमें विषय है । ग्रंथ-बोधक और ग्रंथ-बोध्य इन दोनों का बोध्य-बोधक भाव संबंध है । सब शोक दुःखों की निवृत्ति और परमानंद की प्राप्ति जिसको मोक्ष कहते हैं, यही इसका प्रयोजन है । इसमें दृष्टांत यों हैं—जैसे रसोई में अन्न का भूखा तो अधिकारी, और जो अन्न में मधुरादि स्वादु हैं सो विषय और अन्न वर्तन आदि का संयोग संबंध, भूख का दूर हो जाना प्रयोजन ।

जो कोई कहे कि तुम ब्रह्म-ब्रह्म कहते हो, दिखाओ, आपका ब्रह्म कहाँ, और कैसा है ।

जैसे नास्तिक केवल प्रत्यक्ष-प्रमाण मानता है यह बात मूर्खता की है, सुनो—जैसे किसी वस्तु के सद्भाव में एक प्रत्यक्ष-प्रमाण है, ऐसे और भी अनुमानादि प्रमाण हैं । प्रथम तो प्रत्यक्ष-प्रमाण दो प्रकार का है—बाहर और भीतर । बाहर ज्ञानेन्द्रियों करके शब्दादि

विपयों का और पंचभूतों का ज्ञान होता है, परंतु नेत्र करके तो रूप, पृथ्वी, जल और तेज का ही ज्ञान होता है, और रूप के विना शब्दादि चार विपयों का, और वायु आकाश का नेत्र से ज्ञान नहीं होता है ।

भीतर दुःख-सुख, भूख और शोकादि का ज्ञान अन्तःकरण द्वारा होता है, और सुपुप्ति में जो अज्ञान, उसका ज्ञान साक्षी चैतन्य द्वारा होता है । उस पूर्वपक्षी से पूछना चाहिए कि दुःख सुखादि जिसको होते हैं, क्या वह नेत्र से दिखा सकता है ? और कहे कि दुःखादि को नेत्र से कौन दिखा सके, तो हम कहते हैं- ब्रह्म को नेत्र से कौन दिखा सके । एवं श्रीकृष्णचन्द्रादि की जो मूर्त्ति हैं, वे मायामय मूर्त्ति हैं, क्योंकि यह वेद-शास्त्रों का सिद्धांत है कि जो दृश्य है, सो अनित्य है जैसे कि कहा है—

गोगोचर जहँ लगि मन जाई। सो सब माया जानो भाई

जो उन मूर्त्तियों को कोई परमार्थ से सच्ची कहे, तो वे मूर्त्तियाँ अनित्य हैं, परमेश्वर को वेद-शास्त्र नित्य कहते हैं । तात्पर्य यह है कि परमेश्वर वास्तव में अमूर्त्त है । जैसे दुःखादि अंतःकरण द्वारा जाने जाते हैं, ऐसे सूक्ष्मदर्शी पुरुषों को सूक्ष्म-बुद्धि द्वारा, अंतर्मुखवृत्ति द्वारा और प्रत्यक्षादि प्रमाण द्वारा प्रमेय चैतन्य का अपरोक्ष हो सकता है । वेदांत-शास्त्र में छः प्रमाण हैं—

प्रत्यक्ष, अनुमान*, उपमान, शब्द, अर्थापत्ति, अनुपलब्धि। इनका अर्थ भापा में भले प्रकार लिखने से बहुत विस्तार होता है

---

* अनुमान के पाँच अंग हैं—पक्ष, साध्य, हेतु, व्याप्ति और दृष्टांत । इसलिये पंचावयवी अनुमान कहा जाता है । जैसे पक्ष, यह पर्वत ? साध्य, अग्निवाला हेतु, धूम होने से व्याप्ति, जहाँ-जहाँ धूम होता है, वहाँ-वहाँ निश्चय अग्नि होती है । दृष्टांत-जैसे रसोई के मकान में ।

इसलिये नाम-मात्र रास्ता दिखाते हैं । प्रत्यक्ष का अर्थ तो पी
लिखा गया ।

अनुमान से इस प्रकार ज्ञान होता है कि कोई मनुष्य जंगल
चला जाता है, अग्नि की इच्छा हुई, देखा-पर्वत में धूम उठ र
है । वह अनुमान करता है, वह पर्वत अग्निवाला है, धूम होने से
जहाँ-जहाँ धूम होता है, वहाँ-वहाँ निश्चय अग्नि होती है, जै
रसोई के मकान में । अब विचार करके देखो, अग्नि प्रत्यक्ष न
है, परंतु पर्वत में अग्नि का होना प्रमाण है ।

उपमा करके इस प्रकार ज्ञान होता है—गवय एक पशु हो
है । एक पुरुष ने उसको कभी नहीं देखा था, नाम सुना था,
उसने किसी जंगली आदमी से पूछा कि गवय कैसा होता है
जंगली ने उत्तर दिया कि गौ-सदृश होता है, दोनों में कुछ ही अंत
होता है । वह पुरुष एक दिन जंगल में गया । उसने गवय
देखा । उस गवय को देखकर, उस बात को स्मरण किया कि
के सदृश होता है, निश्चय यही गवय है । विचार देखो—गव
का जान लेना प्रमाण है ।

शब्द-प्रमाण दो प्रकार का है—वैदिक और लौकिक । वेदों
जो कहा, सो वैदिक-प्रमाण है । जो यह शंका करे कि वेदों ने
जीव और ईश्वर का भेद भी कहा है, और अनेक श्रुतियाँ क
उपासनादि द्वारा मोक्ष का होना कहती हैं, और बहुत श्रुति
अन्नमय कोश को आत्मा कहती हैं, तो इस प्रकार वेदों का क
हुआ आपको प्रमाण है, या नहीं । इसका उत्तर यों है—

जो श्रुतियाँ अन्नमयादि कोश को आत्मा कहती हैं, और
कर्म उपासनादि द्वारा मुक्ति का होना कहती हैं, सबका अभिप्रा
युक्ति से अद्वैत ब्रह्म के बोधन करने का है । देहादि को परमार्थ

आत्मा कहना, और जीव-ईश्वर का भेद कहना, और केवल कर्म उपासनादि से मुक्ति का हो जाना, यह श्रुति का तात्पर्य नहीं है, क्योंकि फिर श्रुति ने निषेध भी किया है कि यों नहीं है। इस वाक्य द्वारा और हज़ारों ऐसी अर्थवाली श्रुतियाँ हैं। जो यों शंका करे कि प्रथम श्रुति ने देहादि को आत्मा कहा, और जीव-ईश्वर का भेद कहा, फिर उसको निषेध किया, प्रथम ही एक निर्गुण ब्रह्म का उपदेश क्यों न किया। इसका उत्तर यों है—

जो श्रुति प्रथम ही ब्रह्म का बोधन करती, तो ब्रह्म को अति सूक्ष्म होने से इस जीव को ब्रह्म का कभी बोध न होता, इसलिये श्रुति ने क्रम से अर्थात् प्रथम कर्म करना कहा, फिर उपासना कही, और प्रथम अन्नमयादि को आत्मा कहा, फिर आनन्दमय कोश को आत्मा कहा। जब जिज्ञासु की बुद्धि आनन्दमयादि को विचारते-विचारते अति सूक्ष्म हुई, तब निर्गुण ब्रह्म का उपदेश किया। अब विचारो कि श्रुति का अन्नमय कोशादि को जो आत्मा कहना है, और कर्म उपासना से मुक्ति का होना, यों परमार्थ में तो सच्चा नहीं, परंतु निर्गुण ब्रह्म को साक्षात् बोधन करनेवाली जो बहुत श्रुतियाँ हैं, उनकी ये सब श्रुतियाँ उपयोगी हैं, इसलिये वेद का कहा हुआ सब प्रमाण है। कोई श्रुति साक्षात्, और कोई कर्म उपासनादि द्वारा परंपरा करके बोधन करती हैं। मूर्ख लोग वेदों के तात्पर्य को नहीं विचार के केवल एक देश वेदों का सुनकर कोई देह, कोई इंद्रिय, कोई विज्ञानमय कोशादि को आत्मा बताते हैं। कोई केवल कर्म से, कोई केवल उपासनादि से मुक्ति का होना कहते हैं, समस्त वेदों का तात्पर्य नहीं विचारते, पूर्वपक्ष की श्रुतियों का प्रमाण देकर वृथा वाद करते हैं।

जैसे कोई मूर्ख अच्छे वैद्य के समीप बैठा था। उस समय एक

पुरुष आया, उसको वहुत चलने से हारपन का ज्वर था। वैद्य ने नाड़ी देखकर कहा कि मोहनभोग खाओ, ज्वर जाता रहेगा उसको हारपन से ज्वर था, मोहनभोग के खाने से जाता रहा उस मूर्ख ने समझा कि विशेष करके धनवाले वीमार होते हैं उनके लिये यह औषध वहुत सुंदर है, ऐसा निश्चय करके सब रोगियों को मोहनभोग वताने लगा । जिसको हारपन का ज्वर होवे, तो अच्छा हो जावे, शेष मर जावें। ऐसे ही वहुत मूर्ख एक-एक दो-दो औषध वैद्य से सुनकर वैद्यक करने लगे, न वैद्य के तात्पर्य को विचारा, न रोगी के रोग को विचारा, सबको एक ही औषध वताने लगे। दैवयोग से कोई-कोई अच्छा भी हो जावे इसी प्रकार मूर्ख न वेद के तात्पर्य को, और न अधिकारी के विचारते हैं, केवल आजीविका के लिये वैष्णव, शैव, शाक्त अपने-अपने मत का उपदेश करके कह देते हैं कि य परमतत्त्व है, औरों की असूया कर देते हैं । विचारो कि ज सबको एक देवता का उपदेश करते हैं, तो क्या सा अवस्था में सबके एक ही गुण सदा रहता है, इस दृष्टांत भले प्रकार विचारो। वैद्य तो सद्गुरु की जगह जैसे प्रथ अध्याय में लिखे हैं, और वैद्यक की पोथी वेद और शास्त्रों जगह और रोगी मुमुक्षु की जगह, क्योंकि तीन प्रकार का रोग कफ, वायु और पित्त; और ये तीनही रोग इस जीवको हैं- सत्त्व, रज और तमोगुण। तमोगुणी के लिये कर्म, रजोगुणी लिये उपासना, सत्त्वगुणी के लिये ज्ञान वेदों ने कहा है; उस मूर्ख की जगह इस कलियुग के ऐसे गुरु, जो विना वेदान्त शास्त्र के पढ़े हुए, और विना वेदशास्त्रों का तात्पर्य जाने मूर्खों को चेला करते हैं, उनको केवल अपनी क्षमा ही

प्रयोजन है, शिष्य दुःख भोगे, या नरक भोगे। सो शिवजी ने पार्वतीजी से कहा है —

श्लोक—गुरवो बहवः सन्ति शिष्यवित्तापहारकाः ।
दुर्लभः स गुरुर्देवि शिष्यसन्तापहारक ॥१॥

तात्पर्य वेद भगवान् का यों है—जैसे व्यवहार में मनुष्य सूक्ष्म बात को युक्ति द्वारा कहते हैं, ऐसे वेद भगवान् भी निर्गुण ब्रह्म को युक्ति द्वारा बोधन करते हैं। इस बात के स्फुट होने में मनुष्यों की युक्ति को लिखते हैं —

शारीरक-भाष्य में 'अस्थूलारुंधती' न्याय नाम करके यों युक्ति लिखी है कि कुमारी लड़की को सौभाग्य के अर्थ अरुंधती का दर्शन कराया करते हैं। प्रथम उससे कहते हैं कि यह चन्द्र अरुंधती है, जब वह चन्द्र को जान जाती है, फिर कहते हैं कि यह अरुंधती नहीं है, ये सात तारे अरुंधती हैं, फिर वैसे ही निषेध करके कहते हैं कि ये तीन तारे हैं, फिर उन तीन तारों में से वशिष्ठजी को अरुंधती बताते हैं। जब वह लड़की वशिष्ठजी को भले प्रकार जान जाती है, उसके पीछे उसका भी निषेध करके कहते हैं कि उस तारे के समीप जो बहुत सूक्ष्म तारा है, सो अरुंधती है। जिसके भाग्य अच्छे होते हैं, उसको अरुंधती का दर्शन होजाता है। अब विचारना चाहिए कि प्रथम चन्द्रादि को अरुंधती कहना है, उनके अरुंधती के बताने में सब वाक्य उपकारी हैं, इसलिये सब प्रमाण हैं। जिस काल में वह लड़की अरुंधती को जान जाती है, पीछे उसको यह निश्चय होजाता है कि मेरे माता-पिता ने जो प्रथम चन्द्रादि को बताया था, तात्पर्य उनका अरुंधती के बोधन करने में था। दार्ष्टान्त में फिर भले प्रकार विचारना चाहिए। यों तो वैदिक प्रमाण कहा और लौकिक न्यास,

वशिष्ठ आप्तकामादि पुरुषों का जो कहा है, सो प्रमाण है। लौकिक-प्रमाण में भी वही 'अरुंधतीन्याय' है । इस समय में भी आप्तकाम, ब्रह्मवादी, परमहंस, संन्यासी विशेष करके हैं, और जो इस लोक में अच्छे गुण कहे जाते हैं, जिनको सब मतवाले अंगीकार करते हैं, और वेद वशिष्ठादि का परम सिद्धान्त है, और मुक्ति के मुख्य अंतरंग साधन हैं । निराकांक्ष, शान्ति, निरहंकार, संतोष, कोमलता, विवेक, वैराग्य, निर्वैरता, अमान, परोपकार, क्षमा, शम-दमादि ऐसे-ऐसे गुण और विद्या और विज्ञान विशेष करके ब्रह्मवादी, संन्यासी, और परमहंसों ही में पाते हैं इसलिये उनको आप्तकाम होने से उनके वाक्य प्रमाण हैं ।

किसी से पूछा, कहो जी, भोजन कर आये ? उन्होंने कहा, हम भोजन दिन में नहीं करते हैं और हृष्ट-पुष्ट देखते हैं, अर्थ से यह ज्ञान हुआ कि रात्रि का तो इन्होंने निषेध नहीं किया है, रात्रि को भोजन करते हैं । विचारो यह ज्ञान सच्चा है, या नहीं; इसका नाम अर्थापत्ति-प्रमाण है ।

किसी ने कहा तुम कहते हो, इस स्थान में घट नहीं है, इसमें क्या प्रमाण है । उसने उत्तर दिया, घट का लाभ न होने से अनुपलब्धि प्रमाण है । तात्पर्य इन प्रमाणों के लिखने का यह है कि ब्रह्म के सिद्ध करने में ऐसे-ऐसे प्रमाण और अनेक युक्तियाँ और दृष्टान्त हैं । प्रत्यक्षवादी आदि को तो ऐसे-ऐसे उत्तर देने योग्य हैं कि हे वादी ! विचार करके देखो ब्रह्म ऐसे-ऐसे प्रमाणों से देखने में आता है ।

भेदवादी उपासनावालों और कर्मवादी आदि को यों उत्तर देना योग्य है—

जैसे वेद की दृष्टि से तुम सृष्ट की आदि और परमेश्वर का

दास मानते हो ऐसे ही वेद ने भी कहा है, तू ब्रह्म है। जो यों कहो, हम अभी इस योग्य नहीं हैं तब ऐसा कहे, मैं ब्रह्म हूँ। हम पूछते हैं, किसी प्रतिबंध से तुमको महावाक्यार्थ अर्थात् मैं ब्रह्म हूँ, यह अपरोक्ष न होता, यों कहो वेदांत शास्त्र का श्रवणादि और मैं ब्रह्म हूँ ऐसी अनेक उपासना करने का कहाँ निषेध है, और विचारो, अभ्यास अनजान वस्तु का करते हैं, और अभेद उपासना करने में छान्दोग्य-उपनिषद् आदि, गीता-भाष्यादि बहुत ग्रंथ हैं। उनमें ऐसी-ऐसी उपासना करने में ब्रह्म हूँ, मैं ईश्वर, हिरण्यगर्भ, विराट् हूँ, भले प्रकार ब्रह्मलोकादि फल के सहित लिखी हैं, और भेद-उपासना में बहुत जगह दोष कहे गए हैं, और भले प्रकार विचारो, परिपूर्ण को परिच्छिन्न कहना कितना बड़ा अनर्थ है। वेदों में प्रकट लिखा है, शोक को आत्मा का जाननेवाला तरता है।

उसी आत्मा को जान करके मृत्यु का उल्लंघन करेगा, और कोई रास्ता मुक्ति का नहीं है।

कर्म, धन, और पुत्र करके मुक्त नहीं होता है, सबका त्याग ही करके मुक्त होता है।

ज्ञान के विना मुक्ति नहीं होती है।

ऐसी-ऐसी अर्थवाली बहुत श्रुतियाँ हैं, फिर तुमको मैं ब्रह्म हूँ, इस अर्थ के ग्रहण करने में क्या वाद करना योग्य है। वेदों का तात्पर्य सुनो--कर्म करके तमोगुण का नाश होता है। निद्रा, आलस्य, प्रमादादि तमोगुण का कार्य है। प्रातःकाल के स्नानादि कर्म करने से उनका नाश होता है। व्रतादिक करने से इन्द्रियादि का दमन होता है। दानादि करने से पदार्थों में से आसक्ति दूर हो जाती है। तीर्थादि करने से घर के लोगों से प्रीति कम होती

है। परदेश में जाकर बुद्धि बढ़ती है। तीर्थों में महत्पुरुषों का समागम होता है। उनके सत्संग करने से संसार से चित्त को उपराम होता है, और भी बहुत इस प्रकार के कर्म-कार्य हैं, चित्त से विचारने योग्य हैं। अन्तःकरण का विषयों से उपराम होना इसी को अन्तःकरण की शुद्धि कहते हैं। उपासना से रजोगुण का नाश होता है। विक्षेप, तृष्णा और लोभादि रजोगुण का कार्य है, ध्यानादि द्वारा उनका नाश होता है। ऐसे-ऐसे साधनों से बड़ा जो सत्त्वगुण उसको प्रकाशमय शान्त-रूप होने से कार्य उसका विवेक, वैराग्य शम दमादि हैं। इन साधनों से सम्पन्न होकर जगत् ब्रह्म, बन्ध, मोक्ष, नित्यानित्यादि का विचार किया। विचार करने से यों ज्ञान हुआ कि ये सत्त्वादि तीनों गुण माया के हैं। माया को मिथ्या होने से इन गुणों का जितना कार्य स्थूल और सूक्ष्म है, सब मिथ्या है। और मैं असंग, सच्चिदानन्द नित्य-मुक्त हूँ, इसी को ज्ञान कहते हैं। यों ही ज्ञान मुक्ति का हेतु है। और परमसिद्धांत तो वेदों का यों है कि यह जगत् जीव ईश्वर प्रतिबिंब के सहित न कभी हुआ है, न होगा, न है। एक मन और वाणी द्वारा अगोचर, प्रत्यगात्मा, नित्यानंदरूप, नित्यमुक्त है, न किसी का नाश, न उत्पत्ति, न देह के साथ संबंध है, न कोई सुख-दुःख धर्म वाला, न श्रवण करनेवाला साधक, न मुक्ति की इच्छावाला, न मुक्त है। तात्पर्य जो है, सो है। यों श्रुति का अर्थ है।

पहला अध्याय समाप्त हुआ ॥ १ ॥

दूसरा अध्याय।

अब 'अध्यारोप अपवाद' न्याय करके निष्प्रपञ्च ब्रह्म जगत् का प्रपंच करके, फिर मुक्ति को सिद्ध करते हैं।

मुक्ति महावाक्यार्थ के ज्ञान से होती है—जैसे किसी को रज्जु में सर्प की भ्रांति है, उसका दुःख कंपादि लौकिक वाक्यार्थ के ज्ञान से नाश होता है। यहाँ के स्त्री, चंदन, मालादि, और परलोक के अमृत नंदन वन देवांगनादि की प्राप्ति से उसका दुःख नाश नहीं होता है। ऐसे इस जीव के तीन ताप, पंच क्लेश, यहाँ के और स्वर्गादि के पदार्थों की प्राप्ति से नाश नहीं होते हैं, और न कम होते हैं। किंतु महावाक्यार्थ के ज्ञान से नाश होते हैं। महावाक्यार्थ का ज्ञान जब होता है—प्रथम पदार्थ का ज्ञान होजावे, कै पदों का नाम वाक्य होता है। महावाक्य में तीन पद हैं—तत्, त्वम्, असि—इसलिये तत् पद का अर्थ अभी आगे लिखेंगे। उससे प्रथम तत्पदार्थ का लक्षण लिखते हैं। तत्पदार्थ का अर्थात् ब्रह्म का लक्षण दो प्रकार का है—तटस्थ १, स्वरूप २। सृष्टि, स्थिति और लय का जो कारण अर्थात् जिससे यह जगत् हुआ है, जिसमें ठहर रहा है, प्रलय समय जिसमें लय होजाता है, सो ब्रह्म का तटस्थ लक्षण है। और सत्, चित्, आनंदादि स्वरूप लक्षण है। जैसे किसी पुरुष का लक्षण श्याम गौर रंग, इतनी अवस्था, ऐसे नेत्रादि हैं, यह उसका स्वरूप लक्षण है, और जिसके बाहर कुँआ,

ऐसी उसकी हवेली, ऐसे वस्त्र पहिर रहा है, यह उसका तटस्थ लक्षण है।

तत्पद का अर्थ दो प्रकार का है—वाच्य १, लक्ष्य २। मायोपहित जो चैतन्य सो तत्पद का वाच्यार्थ है। मायोपहित का अर्थ यह है, माया और उपहित ये दो पद हैं। ये दोनों मिलकर व्याकरण की रीति से 'मायोपहित' यह एक शब्द बोला जाता है। मायोपहित अर्थात् माया करके युक्त। जैसे विम्ब घटगत जल करके युक्त अथवा जैसे स्फटिक लाल रंग की सन्निधि से लाल ही प्रतीत होता है, ऐसे ही शुद्ध ब्रह्म माया की सन्निधि से ईश्वर प्रतीत होते हैं। जैसे स्फटिक लाल रंग करके उपहित लाल स्फटिक कहा जाता है, और विम्ब घटगत जल करके उपहित प्रतिविम्ब कहा जाता है, ऐसे ही मायोपहित, शुद्ध चैतन्य जगत्-कारण ईश्वर कहे जाते हैं। उपहित का अर्थ यहाँ भले प्रकार याद कर लेना, भले प्रकार बुद्धि में निश्चय कर लेना, आगे बहुत जगह काम पड़ेगा। प्रसंग यों था, मायोपहित चैतन्य तत्पद का वाच्यार्थ, और माया से युक्त चैतन्य तत्पद का लक्ष्यार्थ है। जैसे प्रतिविम्ब से विम्ब नित्यमुक्त है, और शुक्ति भ्रांति-काल में भी रजत नहीं हुई। और जैसे स्फटिक लाल रंग की सन्निधि काल में भी श्वेत ही रहता है, ऐसे ही शुद्ध-ब्रह्म मायोपहित और अविद्योपहित काल में भी चैतन्य असंग शुद्ध ही है। माया किसको कहते हैं सुनो, जैसे शुक्ति में रजत की भ्रांति, ऐसे ही

१ 'अविद्या' और 'उपहित' ये दोनों पद मिल कर व्याकरण की रीति से एक अविद्योपहित बोला जाता है। अर्थ यों हुआ—अविद्या करके उपहित।

चैतन्य में कारण सूक्ष्मस्थूल प्रपंच जड़ की जो भ्रांति इसी का नाम माया है, यह सब ब्रह्म है । यह सब वासुदेव है । ऐसी-ऐसी अर्थवाली बहुत श्रुतियाँ, और स्मृतियाँ चैतन्य का भाव और जड़ का अभाव कहती हैं । चैतन्य पदार्थ क्या है सुनो; सत्, चित्; आनंद, शुद्ध, बुद्ध, एक, स्वयंप्रकाश, अनंत, नित्यमुक्त, शान्त, अखंड, अज, अमर, परिपूर्ण, निरंजन, निरवयव, असंग, अद्वैत, अव्यक्त, अचिन्त्य, सर्वगत, अचल, सनातन, नित्य, आत्मा, परमात्मा, परमेश्वर, ब्रह्म और प्रत्यगात्मा, ये चैतन्य पदार्थ के विशेषण हैं । और भी चितिज्ञान स्वरूपादि विशेषण हैं, और जड़ अज्ञान से आदि लेकर जो स्थूल पर्यन्त हैं, सो सब जड़ हैं । अज्ञान को प्रकृति और गुणों की साम्यावस्था और मूल अज्ञान भी कहते हैं, सो अज्ञान सत्त्व, रज और तम, इन तीन गुणोंवाला है, स्वरूप उसका अनिर्वाच्य है, सत्, असत् करके कुछ नहीं कहा जाता है । जो सत् कहें, तो कुछ पदार्थ नहीं है, और असत् कहें, तो प्रतीत होता है । जैसे भ्रांति के समय शुक्ति में रस से अनिर्वाच्य है, परंतु ज्ञान से उस अज्ञान का अभाव होने से, वह अज्ञान भावरूप है । जैसे लौकिक व्यवहार में प्रथम कुछ भूल जावे, फिर याद आ जावे । और जैसे बालक अवस्था में तूलाज्ञान का भाव होता है ।

विद्या पढ़ करके और व्यवहारादि से उस अज्ञान का अभाव हो जाता है, ऐसे अज्ञानकाल में कहता है कि मैं ब्रह्म को नहीं

१—तूलाज्ञान यों है—जैसे किसी पदार्थ को भूल जावे उसमें जो कारण और बालक अवस्था में जो अज्ञान से तूलाऽज्ञान उसका न्यायशास्त्र और प्राकृत-विद्या के पढ़ने से और लौकिक व्यवहार से नाश हो जाता है और मूलाऽज्ञान का तो केवल ब्रह्मविद्या से नाश होता है ।

जानता हूँ । ज्ञान-काल में कहता है कि मैं ब्रह्म को जानता हूँ। ऐसा अनुभव-व्यवहार होने से निःसंदेह प्रतीत होता है कि एक अज्ञान पदार्थ अनिर्वाच्य है, भाव और अभाव उसके दोनों प्रतीत होते हैं । अज्ञान १, माया अविद्या का भेद २, मायोपहित शबलब्रह्म ३, जीव ४, जीव ईश्वर का भेद ५, शुद्धब्रह्म ६, ये सब अनादि हैं, इनको यह नहीं कहा जाता है, ये कब से हैं और कब से इनका भेद हुआ है, और शुद्ध-ब्रह्म कब से मायोपहित और अविद्योपहित हुए, जैसे यह नहीं कहा जाता है कि शरीर प्रथम हुआ, या कर्म । दृष्टांत यह है कि बीज प्रथम हुआ, या वृक्ष, और जैसे स्वप्न में जो उपवन, मंदिर, मृग, मित्र, शत्रु आदि दीखते हैं, विचारो कि उपवन मंदिर की कौन से संवत् और मुहूर्त्त में नींव रक्खी गई है, और मित्रादि का कौन से संवत् मुहूर्त्त में जन्म हुआ है, यों ही निश्चय करो। जैसे दृष्टांत के पदार्थों की व्यवस्था है, वैसे ही दार्ष्टांत के पदार्थों में शुद्ध ब्रह्म अनादि भी और अनित्य भी हैं, और सब अनित्य हैं । ज्ञान-काल में शुद्ध-ब्रह्म के विना सब नष्ट हो जाते हैं । वह अज्ञान माया और अविद्या-भेद से दो प्रकार का है—शुद्ध सत्त्व-प्रधान हुआ माया मलिनसत्त्व-प्रधान हुआ, अविद्या कहा जाता है । रजोगुण और तमोगुण द्वारा जो सत्त्वगुण का नहीं तिरोभाव होता है सो शुद्धसत्त्व और रज तमोगुण करके जो सत्त्वगुण का तिरोभाव हो जाता है, सो मलिनसत्त्व कहा जाता है । माया अविद्या का भेद ऐसे समझो कि जैसे एक पुरुष क्रिया के निमित्त से पाठक और याचक कहलाता है । और जैसे एक स्त्री पिता की अपेक्षा से कन्या, पति की अपेक्षा करके पत्नी है, ऐसे वह अज्ञान ईश्वर की अपेक्षा करके माया, और जीव की अपेक्षा करके अविद्या

कहा जाता है। ऐसा भेद नहीं समझना कि अज्ञान के दो टूक हो गये, अथवा उस अज्ञान की शक्ति दो प्रकार की है ज्ञानशक्ति १, क्रियाशक्ति २। रजोगुण और तमोगुण से नहीं दवा जो सत्त्वगुण सो ज्ञानशक्ति १, क्रियाशक्ति दो प्रकार की है---आवरणशक्ति १, विक्षेपशक्ति २। रज और सत्त्वगुण से नहीं दवा जो तमोगुण, सो आवरण-शक्ति, और तम और सत्त्वगुण से नहीं दवा जो रजोगुण, सो विक्षेप-शक्ति, वही अज्ञान आवरणशक्ति-प्रधान हुआ, अविद्या और विक्षेपशक्ति और ज्ञानशक्ति प्रधान हुआ। माया मायोपहित चैतन्य ईश्वर कहा जाता है, यों ही तत्पद का वाच्यार्थ है, और वही चैतन्य अविद्योपहित जीव प्राज्ञ कहा जाता है। मायोपहित ईश्वर तो माया के वश नहीं हुए, इसलिये सर्वज्ञ ईश्वरादि नाम करके कहे गये, और अविद्योपहित जीव अविद्या के वश हो गया, उस अविद्या की विचित्रता से नाना प्रकार का हो गया, इसलिये अल्पज्ञ कहा गया। जैसे कोई पुरुष शीशे के मकान में बैठा हुआ आपको और औरों को भी देखता है, मृत्तिका के मंदिर में बैठा हुआ आपही को देखता है। कभी बहुत अँधेरे में अपने आपको भी नहीं देखता है। माया में शुद्ध सत्त्व-प्रधान होने से माया शीशे के मंदिर के सदृश है, और अविद्या में मलिन सत्त्व-प्रधान होने से अविद्या मृत्तिका के मंदिर के सदृश है। माया में प्रतिविम्ब जो चैतन्य का, सो ईश्वर अविद्या में प्रतिविम्ब जो उसी चैतन्य का, सो जीव वहाँ विम्ब प्रतिविम्ब का भेद सूर्य-विम्ब और घटगत जल प्रतिविम्बवत् नहीं समझना। ऐसे समझना जैसे आकाश का प्रतिविम्ब जल में। प्रथम दृष्टान्त में भी कुछ दोष नहीं है, परंतु परिच्छिन्न भेद सा प्रतीत होता है, सो कुछ दोष नहीं है। दृष्टान्त एकदेश में होता है। आकाश के दृष्टान्त से विम्ब

का भेद और परिच्छिन्नता नहीं प्रतीत होती है। इस पक्ष में जीव तो एक ही है, परंतु अन्तःकरण की उपाधि से बहुत प्रमाता कल्प रक्खे हैं। अन्तःकरण-विशिष्ट चैतन्य को प्रमाता कहते हैं। कोई ऐसा कहते हैं, अनेक अज्ञान हैं, वनवत् जो अज्ञानों का समुदाय सो समष्टि और वृक्षवत्, जो एक अज्ञान सो व्यष्टि वही चैतन्य अज्ञान, समष्टि करके उपहित ईश्वर और वही चैतन्य व्यष्टि अज्ञान द्वारा उपहित जीव। कोई ऐसा कहते हैं, कारणीभूत जो अज्ञान उससे उपहित चैतन्य ईश्वर और अन्तःकरण द्वारा उपहित वही चैतन्य जीव तात्पर्य कारण उपाधिवाले ईश्वर और कार्य उपाधिवाला जीव सबका सिद्धांत यों है, मायोपहित चैतन्य ईश्वर अविद्योपहित चैतन्य जीव सो ईश्वर ज्ञानशक्ति करके उपहित जगत् के निमित्तकारण विक्षेपशक्ति करके उपहित उपादान कारण जैसे मकड़ी जाले के प्रति, चैतन्य प्रधानता करके तो निमित्त कारण और शरीरप्रधानता करके उपादान कारण यह मकड़ी का दृष्टांत श्रुति ने कहा है कि जिस प्रकार मकड़ी जाले को रचती है, फिर अपने में लय कर लेती है। तात्पर्य यह कि परमेश्वर जगत् के कर्त्ता, अभिन्न निमित्तोपादान कारण हैं अर्थात् नहीं हैं भिन्न निमित्त और उपादान कारण जिनसे, सो अभिन्न निमित्तोपादान कारण इस प्रकार जगत् के कारण ईश्वर हैं। ऐसे नहीं हैं जैसे घट के बनाने में कुलाल भिन्ननिमित्तोपादान कारण है। अर्थात् भिन्न है निमित्त और उपादान कारण जिससे, सो भिन्ननिमित्तोपादान कारण कुलाल। तात्पर्य यह कि घट के बनाने में मृत्तिका उपादान, और कुलाल, दंड और चक्रादि निमित्त हैं। ईश्वर तो आपही उपादान और आपही निमित्त कारण है। पूर्वरीति से भले प्रकार विचारना योग्य है। निरीश्वर-

वादी पूर्व मीमांसकादि को जो यों तर्क-जगत् के मोह के लिये वाचाल करावें हैं, उस तर्क को सुनो । वे लोग यों कहते हैं । ईश्वर जो त्रिभुवन को रचते हैं, सो त्रिभुवन के रचने में क्या क्या चेष्टा करते हैं, और रचने के समय किस प्रकार की काया है जिनकी, अर्थात् किस रूप हुए और क्या है उपाय और आधार जिनका, और क्या उपादान है । यों तर्क उनकी अतर्क्य ईश्वर के विषय में दुर्बल है । परमेश्वर की रचना में तर्क का अवसर नहीं, क्योंकि परमेश्वर की माया नहीं घटने के योग्य पदार्थ को घटा सकती है, और मनुष्य की रचना इन्द्रजालादि में बुद्धि काम नहीं करती है । परमेश्वर की रचना में तो नष्ट-बुद्धि-वाले तर्क करते हैं, तो भी उस तर्क के खंडन के लिये कहा है जो ऊपर अभिन्ननिमित्तोपादानकारण-प्रकार वह वज्र उनके मुख में मारना योग्य है ।

इस रीति से जगत् का कर्ता ईश्वर को सिद्ध किया, और कारण-प्रपंच का यहाँ तक निरूपण किया । जगत् में तीन प्रपंच हैं कारण १, सूक्ष्म २, स्थूल ३,

अब सूक्ष्म प्रपंच का निरूपण करते हैं ।

पूर्व सिद्ध किये हुए जो मायोपहित चैतन्य ईश्वर उनसे प्रथम महत्तत्त्व अहंकार की सूक्ष्म अवस्था, फिर महत्तत्त्व से अहंकार अर्थात् मैं एक हूँ बहुत होजाऊँ, फिर अहंकार से आकाश, आकाश से वायु, वायु से तेज, तेज से जल, जल से पृथ्वी । इन सबका अर्थ ऐसा करना, महत्तत्त्व करके उपहित जो ईश्वर उनसे अहंकार हुआ, तात्पर्य यों है, महत्तत्त्वादि सब जड़पदार्थ हैं, विना चैतन्य रचना नहीं हो सकती है । निश्चय इसी आत्मा से आकाश हुआ है, यह श्रुति का अर्थ है । माया को तीन गुणों-

वाली होने से कार्य भी उसका आकाशादि पञ्च तीन गुणोंवा
हैं । उनको अपंचीकृत सूक्ष्मभूत और तन्मात्रा भी कहते है
इन्हीं सूक्ष्मभूतों से पञ्चीकृत स्थूलभूत उत्पन्न हुए हैं । औ
सूक्ष्मशरीर[1] १७ लिंगवाला उत्पन्न हुआ । सत्रह लिंग ये है

शब्दादि का ज्ञान होता है जिन इन्द्रियों से, सो ज्ञानेन्द्रि
पंच, और कर्म किया जाता है जिन इन्द्रियों से, सो कर्मेन्द्रि
पंच, प्राणादि पंच, मन बुद्धि २ आकाशादि के सत्त्व गुण के अं
से पृथक् पृथक् पंच ज्ञानेन्द्रिय हुए । वही लिखते हैं—आकाश
श्रोत्र, वायु से त्वक्, तेज से चक्षु, जल से रसना, पृथ्वी से घ्रा
और आकाशादि के मिले हुए सत्त्वगुण के अंश से अन्तःकर
सो वृत्तिभेद से चार प्रकार का है । संकल्प विकल्पवाला म
निश्चयवाली बुद्धि, अभिमानवाला अहंकार, अनुसंधानवा
चित्त और आकाशादि के रजोगुण के अंश से पृथक्-पृथक्
कर्मेन्द्रिय हुए हैं । आकाश से वाक्, वायु से पाणि, तेज से प
जल से उपस्थ, पृथ्वी से वायु । और आकाशादि के मिले
रजोगुण के अंश से प्राण, सो वृत्तिभेद से पाँच प्रकार का
बाहर को निकलनेवाला नासिका मुख में रहनेवाला प्राण १, नी
को जानेवाला वायु आदि में रहनेवाला अपान २, सब शरीर
फिरनेवाला सब शरीर में रहनेवाला व्यान ३, खाये पिये
सब नाड़ियों में पहुँचानेवाला सारे शरीर में रहनेवाला समान

१—सूक्ष्म शरीर को कोई १६ लिंग, कोई १७ लिंग कोई १९ लि
वाला कहते हैं । लिंग ही को तत्त्व कहते हैं । इन्द्रिय दश, प्राण पंच, अन्
करण एक—इस प्रकार १६, और इन्द्रिय प्राण १५, मन बुद्धि २—
प्रकार १७, और इन्द्रिय प्राण १५, मन बुद्धि चित्त अहंकार ४, इस प्र
१९, परंतु बहुत लोग १७ तत्त्ववाला कहते हैं ।

ऊपर को जानेवाला, कण्ठ में रहनेवाला उदान ५, और पञ्च उपप्राण हैं उनका भी इन्हीं पाँच में अंतर्भाव है, उद्गार में जो हेतु सो नाग १, नेत्रों के खोलने-मीचने में जो हेतु सो कूर्म २, भूक का जो हेतु सो कृकल ३, जँभाई लेने में जो हेतु सो देवदत्त ४, सब जगह रहनेवाला धनञ्जय जो मुरदे को फुला देता है। आकाश से दो इन्द्रिय श्रोत्र और वाक्। हेतु यों है, श्रोत्र करके जो आकाश का सद्गुण सो ग्रहण किया जाता है, और वाक् से बोला जाता है। वायु से दो इन्द्रिय त्वक् और पाणि। हेतु यों है, त्वक् करके तो वायु का जो स्पर्श गुण उसका ज्ञान होता है, और पाणि से त्वक् की रक्षा होती है। तेज से दो इन्द्रिय—चक्षु और पाद। हेतु यों है, चक्षु करके तो तेज का जो गुणरूप उसका ज्ञान होता है, और पैर के मलने से चक्षु की गरमी दूर होती है। जल से दो इन्द्रिय—रसना और उपस्थ। हेतु यों है, रसना करके तो जल का जो गुण रस उसका ज्ञान होता है, और तरह रहता है, और उपस्थ करके जल का त्याग होता है। पृथ्वी से दो इन्द्रिय—घ्राण और वायु। हेतु यों है, घ्राण करके तो पृथ्वी का जो गुण गंध, उसका ग्रहण होता है, और वायु से गंध का त्याग होता है, और अन्तःकरण समष्टि पाँचों भूतों के सत्त्वगुण के अंश से उत्पन्न हुआ है। हेतु यों है, पाँचों ज्ञानेंद्रियों के विषयों को अनुभव करता है अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय, आनंदमय, ये पंचकोश कारण, सूक्ष्म-स्थूल शरीरों के अंतर्भाव हैं, आगे जो कहेंगे। स्थूल शरीर, सो तो अन्नमय कोश है। सूक्ष्म शरीर में तीन कोश हैं—पंच कर्मेन्द्रिय करके सहित जो पंच प्राण सो प्राणमय कोश और पञ्चज्ञानेन्द्रिय करके सहित जो मन सो मनोमयकोश और पञ्च ज्ञानेन्द्रिय करके

सहित जो बुद्धि सो विज्ञानमय कोश है । मनोमय और विज्ञा
मय कोश में यह भेद है कि मनोमय कोश तो करण और विज्ञा
मय कोश कर्ता है । क्रिया में कर्तादि ये षट्कारक होते हैं ।

कर्ता कर्म च करणं च संप्रदानं तथैव च ।
अपादानाधिकरणमित्याहुः कारकाणि षट् ॥

कारणशरीर में कारणशरीरभूता अविद्या में जो मलिन सत्
सो प्रियमोद-प्रमोदवृत्ति करके सहित आनन्दमय कोश है । को
अज्ञान को आनंदमय कोश कहते हैं । जो वस्तु प्राप्त न हो औ
अच्छी प्रतीत हो, उस समय की वृत्ति को प्रिय कहते हैं १, फि
वही वस्तु जब अपनी होजावे, उस समय में जो आनंद है
मोद २, उसके भोगने में जो आनंद, वह प्रमोद ३ ।

यह सूक्ष्म शरीर समष्टि और व्यष्टि भेद से दो प्रकार का है
वनवत् सूक्ष्म शरीरों का समुदाय समष्टि वृक्षवत् पृथक्-पृथक् ए
एक सूक्ष्म शरीर । व्यष्टि जैसे उपवन, समष्टि और उसी उपव
का एक-एक वृक्ष व्यष्टि सूक्ष्म समष्टि करके उपहित वही माये
पहित चैतन्य हिरण्यगर्भ कहा जाता है और सूक्ष्म व्यां
करके उपहित वही अविद्योपहित चैतन्य तैजस कहा जाता है
समष्टि और व्यष्टि का तादात्म्य होने से उन करके उपहि
हिरण्यगर्भ तैजस की भी तादात्म्यता है । जैसे वन और वृ
करके उपहित आकाश में कुछ भेद नहीं, ऐसे हिरण्यगर्भ तैजस
भेद नहीं । और भी दृष्टांत हैं—जाति, व्यक्ति, सामान्य, विशे
नगर, मोहल्ला इनके विना विचार के भेद हैं, वास्तव भेद नहीं
यह सूक्ष्म शरीर अविद्या कामकर्म करके सहित पुर्यष्टक कहाता
है सोई लिखते हैं ।

ज्ञानेन्द्रिय पंच १, कर्मेन्द्रिय पंच २, चार अंतःकरण ३, पं

प्राण ४, पंच सूक्ष्मभूत ५, अविद्या ६, काम ७, कर्म ८। अविद्या का कार्य चार प्रकार का है। ब्रह्मलोक पर्यंत जो पदार्थ हैं, उनमें नित्यबुद्धि होनी १, दुःखों में और दुःखों के साधनों में जो सुखबुद्धि २, देहादि अनात्मा पदार्थों में आत्मा-बुद्धि ३, अपवित्र जो अपने और पुत्रादि के शरीर उनमें पवित्र बुद्धि ४। काम राग को कहते हैं। कर्म तीन प्रकार का है। संचित १, आगामी २, प्रारब्ध ३। अपना किया हुआ कर्म फल को न देकर जो अदृष्टरूप करके ठहर रहा है, सो संचित १, इस शरीर में जो किया जाता है, सो आगामी २। स्थूल शरीर के जन्म-स्थिति का जो हेतु, सो प्रारब्ध ३। संचित आगामी कर्मों के फल का भोग करके वा उसका विरोध कर्म करके वा ब्रह्मज्ञान करके नाश होजाता है।

प्रारब्ध कर्म का भोगने से नाश होता है। प्रारब्ध से पृथक् अविद्यादि पंच क्लेश हैं। उनका ब्रह्मज्ञान से नाश होता है। अविद्या १, अस्मिता २, राग ३, द्वेष ४, अभिनिवेश ५। कारण-कार्य करके अविद्या दो प्रकार की ऊपर लिख आए हैं। अहंकार की सूक्ष्म अवस्था को अस्मिता और महत्तत्त्व और सामान्य अहंकार भी कहते हैं। राग काम को कहते हैं। द्वेष क्रोध को कहते हैं। अपने आप ग्रहण करके फिर उसके त्याग को न सहना इसको अभिनिवेश कहते हैं। ब्रह्म को जान करके सारे क्लेशों से छूट जाता है, यह श्रुति का अर्थ है। यहाँ तक सूक्ष्म शरीर की उत्पत्ति लिखी, अब स्थूल शरीर की उत्पत्ति लिखते हैं।

पञ्चीकृत पञ्च स्थूल भूत हैं, आकाशादि के तामस अंश को लेकर अर्थात् बुद्धि में कल्पना करके प्रथम एक-एक के दो-दो टूक करके दो में से एक को पृथक् रक्खे, उस दूसरे के चार-चार भाग करे। फिर उन चारों भागों को अपने-अपने भाग को छोड़कर

औरों में मिला देना, यह पञ्चीकरण कहलाता है। जिसका भा जिसमें सिवाय है, वही कहने में आता है। जैसे मनुष्य शरी को पार्थिव कहते हैं। पञ्चीकृत स्थूल भूतों का जो रचा हुआ स्थूल शरीर, उसमें पञ्चीकृत स्थूल भूत हैं, और अपञ्चीकृत भूतं के तामस अंश का कार्य इस प्रकार है, पञ्चीकृत जो पृथ्वी, उस की पृथ्वी का कार्य अस्थि, क्योंकि कठिन है। जल का कार्य मांस कुतः वह जाता है, और शिथिल है। तेज का कार्य नाड़ी, कुत ज्वर की परीक्षा करती है। वायु का कार्य त्वक्, कुतः स्प करती है। आकाश का कार्य रोम, कुतः काटने से दुःख न होता है। पञ्चीकृत जो जल उसकी पृथ्वी का कार्य शोणित, कु पृथ्वी के सदृश रक्त है। जल का कार्य शुक्र, कुतः श्वेत और उससे गर्भ होता है। जैसे जल से सब वस्तुओं की उत्प है। तेज का कार्य मूत्र, कुतः उष्ण है। वायु का कार्य स्वे कुतः बहुत दम चलने से आ जाता है, और वायु से सूख जा है। आकाश का कार्य राल, कुतः ऊपर को जाती है, और आ काश भी ऊँचा है। और पञ्चीकृत जो तेज उसकी पृथ्वी का का आलस्य, कुतः आलस्य में जड़ता है। जल का कार्य क्रांति, कुतः ज के स्पर्श स्नानादि से सुंदरता होती है। तेज का कार्य क्षुधा, कु अन्न को पचाती है। वायु का कार्य तृषा, कुतः ओष्ठ और कं सूख जाता है। आकाश का कार्य निद्रा, कुतः निन्द्रा में नि कल्प हो जाता है। और पंचीकृत जो वायु उसकी पृथ्वी का का संकोचन, कुतः जिस समय मनुष्य सुकड़कर बैठे, तो भारी औ जड़ सा हो जाता है। जल का कार्य चलना, कुतः जल भी चल है। तेज का कार्य उठना और उछलना, कुतः उठने और उछ लने में ऊँचा होता है, और अग्नि भी ऊपर को जाती है। वायु का

कार्य दौड़ना, कुतः दौड़ने में बल होता है, और वायु में भी बल और वेग है। आकाश का कार्य पसरना, कुतः आकाश भी व्यापक है, और पसारने में भी व्यापक होता है, अर्थात् फैलता है। और पंचीकृत जो आकाश उसकी पृथ्वी का कार्य कटि, जहाँ मल रहता है, कुतः गंध-स्थान है। जल का कार्य उदर, कुतः जल-स्थान है। तेज का कार्य हृदय, कुतः उष्ण रहता है। वायु का कार्य कंठ, कुतः वायु का स्थान है। आकाश का कार्य शिर, कुतः शब्द-स्थान है, और अनहद शब्द होता रहता है। और पञ्चीकृत आकाश का भेद दूसरे प्रकार ऐसे हैं। उसकी पृथ्वी का कार्य भय, कुतः भय से अंतःकरण में तम प्रधान हो जाता है, और तम पृथ्वी का भाग है। जल का कार्य मोह, कुतः जल के स्पर्श से उत्पन्न होती है जो सुंदरता उसको देखकर मोह होता है। तेज का कार्य क्रोध, कुतः क्रोध के समय हृदय भस्म होता है। वायु का कार्य काम, कुतः वायु भी चंचल है और काम भी चंचल है। आकाश का कार्य लोभ, कुतः आकाश की भी अवधि नहीं, लोभ की भी अवधि नहीं।

	पृथिवी	जल	तेज	वायु	आकाश
पृथिवी	अस्थि	मांस	नाड़ी	त्वचा	रोम
जल	रक्त	वीर्य	मूत्र	स्वेद	राल
तेज	आलस्य	कांन्ति	भूख	प्यास	निद्रा
वायु	संकोचना	चलना	उठना, उछलना	दौड़ना	फहलाना
आकाश	कमर में	पेट में	हृदय में	कंठ में	शिर में
दूसरी प्रकार आकाश	भय	मोह	क्रोध	काम	लोभ

शब्द गुण जिसमें रहता है, सो आकाश सावकाश । रूप र
रहित स्पर्शवाला वायु । गर्म स्पर्शवाला तेज, सो चार प्रकार क
है—अग्नि आदि, स्वर्णादि, विद्युदादि, जठराग्नि । शीत स्पर्
वाला जल । गंधवाली पृथिवी । पंचभूतों के जो लक्षण कहे हैं, वे
तीनों दोषों से रहित हैं । जिस लक्षण में अव्याप्ति, अतिव्या
और असम्भव, ये तीन दोष पाए जावें, वह प्रमाण नहीं । जै
किसी ने कहा, गौ कपिला होती है, इसमें अव्याप्ति दोष है, कु
बहुत गौ कपिला नहीं होतीं । फिर कहा, सींगवाली गौ होती है
इसमें अतिव्याप्ति दोष है, क्योंकि, सींग हिरन आदि के भी हो
हैं । फिर किसी ने कहा एक खुरवाली गौ होती है, इसमें असम्भ
दोष है, कुतः यह लक्षण गौ में सम्भव नहीं हो सकता । औ
वही लक्षण प्रमाण है, जो सब दोषों से रहित हो । जैसे गौ
लक्षण सींग, सास्ना आदिवाली गौ । विचारो, इसमें कोई दो
नहीं । आकाश में एक गुण शब्द । वायु में दो—शब्द और स्पर्श
तेज में तीन—शब्द, स्पर्श और रूप । जल में चार—शब्द, स्पर्श
रूप और रस । पृथिवी में पाँच—शब्द, स्पर्श, रूप, रस औ
गंध । पंचीकृत पृथिवी आदि से ब्रह्मांड हुआ । ब्रह्मांड में चौद
लोक—भूः, भुवः, स्वः, महः, जन, तप और सत्य; ये सात ऊप
ऊपर के लोक हैं, और तल, वितल, सुतल, तलातल, महातल
रसातल और पाताल; ये सात नीचे-नीचे के लोक हैं । ब्रह्मां
से मनु और शतरूपा हुए । ब्रह्मांड में जो पृथिवी उससे औष
हुई । औषधि से अन्न । माता-पिता के खाये हुए का परिणाम
शोणित, उससे स्थूल शरीर उत्पन्न हुआ । शरीर चार प्रकार
हैं । मनुष्यादि के शरीर जरायुज अर्थात् जरायु से उत्पन्न हुए
पक्षी नागादि के शरीर अंडज अर्थात् अंडे से उत्पन्न हुए । ली

जूँ आदि के शरीर स्वेदज अर्थात् पसीने से उत्पन्न हुए। तृण, वृक्षादि उद्भिज्ज अर्थात् पृथिवी को भेदन करके उत्पन्न हुए। और मनु से लेकर सनक सनन्दनादि के शरीर इन चारों से पृथक् हैं। वे मानवी सृष्टि में हैं। सुना जाता है ये ब्रह्माजी के मन से उत्पन्न हुए हैं। यह स्थूल शरीर समष्टि, व्यष्टि भेद करके दो प्रकार का है। पंचीकृत पंचमहाभूत और उनका कार्य ब्रह्मांड और ब्रह्मांड के भीतर जो पंचभूतों का कार्य स्थूल शरीरादि का समुदाय, यह सब समष्टि और पृथक्-पृथक् स्थूल शरीर व्यष्टि इस स्थूल समष्टि करके उपहित वही मायोपहित चैतन्य, विराट् कहा जाता है। और स्थूल व्यष्टि करके उपहित वही अविद्योपहित चैतन्य विश्व कहा जाता है। समष्टि व्यष्टि को जाति-व्यक्ति सामान्य-विशेष वन-वृक्षवत् तादात्म्य होने से उन करके उपहित विराट् विश्व की भी एकता है। इस जीव की प्रसिद्ध तीन अवस्थाएँ हैं। प्रसिद्ध लिखने से यह अभिप्राय है कि कोई मरण और मूर्च्छा, ये दो अवस्थाएँ और भी कहते हैं। परंतु प्रसिद्ध तीन अवस्थाएँ हैं—जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति। जाग्रत् का अर्थ जानने के लिये प्रथम इन्द्रिय और अंतःकरण और शब्दादि विषय और बोलना आदि क्रिया और संकल्पादि अंतःकरण के धर्म और दिक् आदि देवताओं के सहित सबको पृथक्-पृथक् लिखते हैं।

यह संकेत याद रखना चाहिए एक का अंक जिसके आगे हो उसको इन्द्रिय वा अंतःकरण जानना, इसीको अध्यात्म कहते हैं। और दो का अंक जिसके आगे, उसको ज्ञानेन्द्रिय का विषय वा कर्मेन्द्रिय की क्रिया वा अंतःकरण का धर्म जानना, इसको अधिभूत कहते हैं। और तीन का अंक जिसके आगे, उसको देवता जानना, इसी को अधिदैव कहते हैं। जिस इन्द्रिय और मनादि

के आगे विषय, क्रिया, धर्म देवता लिखे हैं, उसी उस इन्द्रि मन आदि के विषय क्रिया धर्म देवता हैं । शब्दादि पाँच को विष और बोलना आदि पाँच को क्रिया और संकल्पादि चार को ध बोलते हैं । श्रोत्रादि इन्द्रिय सूक्ष्म हैं । कान, नासिका आदि स्थूल शरीर में दीखते हैं, ये उनका आश्रय हैं, अर्थात् उनमें रह हैं । बहुत करके तो वहिर्मुख हैं, कभी भीतर का भी कुछ ज्ञा हो जाता है । श्रोत्र कान में रहता है, बहुत करके तो बाहर शब्द को सुनता है, कभी कान बंद करने से कुछ शब्द भीतर भी सुना जाता है । श्रोत्र करके सुना जाता है जो शब्द सो प्रकार का है। एक शस्त्रादि का, दूसरा भेरी आदि का । सो पाँ भूतों में रहता है २, दिक् ३ । त्वक् सारे शरीर में रहता है, बहु करके तो बाहर के शीत कोमलादि को विषय करता है, क उष्ण आदि वस्तु के खाने से भीतर के स्पर्श का ज्ञान होता है त्वक् करके जो स्पर्श किया जाता है, सो स्पर्श पाँच प्रकार है—शीत, गर्म, न शीत न गर्म, कठिन, कोमल । शीत-स्पर्श में । गर्म-स्पर्श तेज में । न शीत न गर्म, पृथिवी और वायु में कठिन और कोमल पृथिवी में, और पृथिवी के कार्य वस्त्र आदि रहता है २, वायु ३ चक्षु नेत्रों में कृष्ण तारे के अग्रभाग में रह है, बहुत करके तो बाहर के रक्त-पीतादि रूप को देखता है, क नेत्र के मीचने में भीतर का भी तम प्रतीत होता है १, चक्षु कर जो रूप देखने में आता है, सो सात प्रकार का है—शुक्ल, नील पीत, रक्त, हरित, कपिश और चित्र भेद करके । सो पृथिवी में सात प्रकार का, और जल में अभास्वर शुक्ल, और तेज भास्वर शुक्ल रहता है २, सूर्य ३ रसना जीभ के अग्रभाग रहती है, बहुत करके तो बाहर के मधुरादि रस अनुभव कर

है, कभी डकार आने से भीतर के रस का भी ज्ञान हो जाता है १ । रसना करके जो रस का अनुभव होता है सो छः प्रकार का है—मधुर, अम्ल, लवण, कटु, कषाय और तिक्त भेद करके। सो पृथिवी में तो ६ प्रकार का, और जल में केवल मधुर रहता है २, वरुण ३, घ्राण नाक के दो स्वर उनके अग्रभाग में दोनों के बीच में रहता है, बहुत करके तो बाहर के गंध को ग्रहण करता है, कभी डकार आने से भीतर के गंध का भी ज्ञान हो जाता है १ । घ्राण करके जो ग्रहण किया जाता है, सो दो प्रकार का है—सुगंध और दुर्गंध । सो पृथिवी में रहता है २, पृथिवी ३ यहाँ तक ज्ञानेन्द्रियों का निरूपण किया । वाक् जीभ में रहता है १, बोलना २, अग्नि ३, पाणि हाथों में रहता है १, लेना देना २, इन्द्र ३, पाद चरणों में रहता है १, चलना-फिरना २, विष्णु ३, उपस्थ मूत्र करने का जो शरीर में चिह्न उसमें रहता है १, मैथुन मूत्रत्याग २, प्रजापति ३, वायु मल त्याग करने का जो शरीर में चिह्न उसमें रहता है १, मल का त्याग करना २, मृत्यु ३, यहाँ तक कर्मेन्द्रियों का निरूपण किया । अन्तःकरण हृदय-गोलक में रहता है, सो वृत्ति-भेद करके चार प्रकार का है—मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार । मन १ संकल्प विकल्प मनोराज्यादि २ चंद्र ३ बुद्धि १ पदार्थों का निश्चय करना २ बृहस्पति ३ चित्त १ चिन्तवन करना २ क्षेत्रज्ञ ३ अहंकार १ यह मैंने किया यह मेरे करने योग्य है २ रुद्र ३ अमान, अदंभ, अहिंसा, क्षमा, आर्जव, वैराग्य, शम, दम, मुक्ति की इच्छा, संतोष, औदार्यादि ऐसी-ऐसी और भी अंतःकरण की सत्त्वगुणी वृत्तियाँ हैं और तृष्णा, दंभ, लोभ, अहंकार, अशम, भोगों की इच्छा, चपलता, अभिमान, रागादि ऐसी-ऐसी और भी बहुत अन्तःकरण की रजोगुणी वृत्तियाँ

हैं, और निद्रा, आलस्य, प्रमाद, मोहादि अन्तःकरण की त[illegible] गुणी हैं अर्थात् यह सब अन्तःकरण का धर्म है । जो संक[illegible] विकल्पवाली वृत्ति, सो मन की और निश्चयवाली बुद्धि की [illegible] अनुसंधानवाली चित्त की और अभिमानवाली अहंकार की वृ[illegible] सत्त्वगुणी वृत्ति से पुण्य की उत्पत्ति होती है । रजोगुणी वृत्ति [illegible] पाप की उत्पत्ति होती है । तमोगुणी वृत्ति से मूर्खता बढ़ती [illegible] वृथा अवस्था व्यतीत होती है । उससे न कुछ इस लोक में प्रा[illegible] न कुछ परलोक में प्राप्ति है । पीछे तमोगुणी वृत्ति बहुत दुः[illegible] की हेतु है ।

भूत	ज्ञानेन्द्रिय	विषय	ज्ञानेन्द्रियों के देवता	कर्मेन्द्रिय	क्रिया	कर्मेन्द्रियों के देवता
आकाश	श्रोत्र	शब्द	दिक्	वाक्	बोलना	अग्नि
वायु	त्वक्	स्पर्श	वायु	पाणि	लेना देना	इन्द्र
तेज	चक्षु	रूप	सूर्य	पद	चलना	विष्णु
जल	रसना	रस	वरुण	उपस्थ	मैथुनादि	प्रजापति
पृथ्वी	घ्राण	गंध	पृथ्वी	गुदा	मलत्याग	मृत्यु

श्रोत्रादि इन्द्रियों के जो देवतादिक आदि ।

उन करके युक्त श्रोत्रादि करके जो अपने-अपने विषयों [illegible] अनुभव होना सो जाग्रत् अवस्था, यह जो जाग्रत् अवस्था [illegible] यह स्थूल शरीर मन इन्द्रियादि का आश्रय इन दोनों का [illegible] अभिमानी जीव, सो विश्व कहा जाता है । प्रथम भी विश्व वि[illegible] की एकता लिख आये हैं, इसलिये भेद की निवृत्ति के लिये विश्व [illegible]

विराट्‌रूप करके देखे १। जाग्रत् अवस्था में जो भोग देनेवाले कर्म उनका उपराम हुये संते और बाहर श्रोत्रादि इन्द्रियों का उपराम हुये संते जाग्रत् अवस्था में जो देखा और सुना उन्हीं संस्कार करके केवल अन्तःकरण करके जो निद्रा में प्रपंच की प्रतीति, सोई स्वप्नावस्था, वही जाग्रत् अवस्था का अभिमानी जो विश्व सोई स्वप्नावस्था और सूक्ष्म शरीर का अभिमानी हुआ तैजस कहा जाता है। तैजस हिरण्यगर्भ की एकता है। तैजस को हिरण्यगर्भरूप करके देखे २। जाग्रत् स्वप्न में जो भोग देनेवाले कर्म उनका उपराम हुये संते स्थूल सूक्ष्म शरीरों का जो अभिमान उसके निवृत्ति होने से बुद्धि का कारणात्मा में जो स्थित होना सो सुषुप्ति अवस्था मैंने न कुछ जाना सुख करके मैंने निद्रा का अनुभव किया जो जाग्रत् अवस्था में जिस अवस्था की व्यवस्था कहता है, वही सुषुप्ति है। तात्पर्य यह कि जिस अवस्था में बुद्ध्यादि सब लय हो जाते हैं, वही सुषुप्ति है। वही स्वप्न अवस्था का अभिमानी जो यह तैजस सोई सुषुप्ति अवस्था और कारण शरीर का अभिमानी हुआ प्राज्ञ कहा जाता है। प्राज्ञ ईश्वर की एकता है प्राज्ञ को ईश्वर-रूप करके देखे, यही प्राज्ञ तीनों शरीर और तीनों अवस्था का अभिमान छोड़कर शुद्ध परमात्मा हो जाता है। जो यह उपासना करे मैं विराट् वा हिरण्यगर्भ वा ईश्वर वा शुद्ध ब्रह्म हूँ, इस उपासना करके वैसा ही वैसा फल होता है। अर्थात् विराट् आदि की उपासना करने से विराट् आदि हो जाता है। ऐसी-ऐसी उपासना उपनिषद् आदि में भले प्रकार फल के सहित लिखी हैं। और भी प्रणव आदि उपासना हैं, शुद्ध ब्रह्म से लेकर पाषाण आदि मूर्ति पर्यंत उपसाना हैं। जैसी अपनी सामर्थ्य जाने भेद उपासना वा अभेद उपासना वेद-शास्त्रों में से निश्चय करके करे। परमेश्वर

की जैसी उपासना करेगा वैसा ही वैसा फल होवेगा। मुख्य
अभेद उपासना शुद्ध ब्रह्म की है, और ईश्वर हिरण्यगर्भ विराट्
की अभेद उपासना और विष्णु शिवादि राम कृष्णादि की भेद
उपासना और नामोच्चारणादि पाषाणादि मूर्तियों की अर्चनादि
सब उपासना उत्तरोत्तर गौण हैं। जो अभेद उपासना शुद्धब्रह्म की
न होसके, तो भेद उपासना श्रीकृष्णचन्द्र महाराजादि की करने
ज्ञान द्वारा मुक्ति में संदेह नहीं है। जैसे कोई सिंह किसी पुरुष की
छाया को देखकर दौड़ा। उस छाया से पुरुष की प्राप्ति हो गई, इसी
प्रकार मणिप्रभा से आदि लेकर और भी बहुत दृष्टांत हैं, अष्टा-
वक्रजी का यह वाक्य है कि जिसकी जो मति है उसकी वैसी ही गति
होगी। अर्थात् 'दासोऽहम्' जिसकी मति है वह दास ही है
और 'ब्रह्माहमस्मि' यह जिसकी मति है, वह ब्रह्म ही है। 'ब्रह्म
विद्ब्रह्मैव भवति' इस श्रुति से इस प्रकार मायोपहित ब्रह्म का
तटस्थ लक्षण निरूपण किया। इसी को अध्यारोप कहते हैं। अब
इसका अपवाद लिखते हैं। अधिष्ठान में भ्रान्ति करके
प्रतीत होना, उस भ्रान्ति को अधिष्ठान से व्यतिरेक करके भ्रान्ति
का अभाव निश्चय करना, जैसे शुक्ति में रजत की भ्रान्ति प्रतीत
होती है शुक्ति का रजत से व्यतिरेक करके यह रजत नहीं है, शुक्ति
है, यह जो रजत का अभाव निश्चय करना इसी को अपवाद
बाध विलापन भी कहते हैं, सो बाध तीन प्रकार का है, शास्त्र
करके, युक्ति करके, प्रत्यक्ष करके। वेद कहते हैं यह स्थूल सूक्ष्म
प्रपंच नहीं है। इस जगत् भ्रान्तिरूप में ब्रह्म से पृथक् कुछ नहीं
है, एक शुद्ध ब्रह्म है, इस प्रकार शास्त्र करके, प्रपंच से ब्रह्म का
व्यतिरेक करके प्रपंच का अभाव निश्चय करना यह शास्त्र करके

१—जिसमें जो वस्तु कल्पित हो, जैसे रज्जु में सर्प।

जगत् का बाध है ? । और घट से मृत्तिका का व्यतिरेक करके घट का अभाव निश्चय करना, इसी प्रकार ब्रह्म से व्यतिरेक करके सारे प्रपंच का अभाव निश्चय करना, और जो देखने में आता है, इसको भ्रान्ति निश्चय करके ब्रह्ममात्र निश्चय करना यह युक्ति करके जगत् का बाध है। यह जगत् सब ब्रह्म है इसको इस प्रकार जानना चाहिये। ब्रह्मांड में जितने पदार्थ हैं, सबमें पाँच वस्तु हैं, भान होता है। है, प्यारा है, नामरूप संस्कृत में अस्ति, भ्रान्ति, प्रिय नामरूप से ससा बोलते हैं। प्रथम के तीन अंश सच्चिदानन्द ब्रह्म के हैं, पदार्थ घटादि के नाश हुये भी नहीं नाश होते हैं, और नामरूप ये दो माया के हैं। माया को मिथ्या होने से यह कार्य भी उसका नामरूप दोनों अंश नाश होजाते हैं। अन्वय-व्यतिरेक करके ब्रह्ममात्र निश्चय किया जाता है, सोई लिखते हैं, जैसे एक घट पदार्थ है, भान होता है, प्यारा है, ये तीन अंश उसमें ब्रह्म के हैं, और नाम घट और रूप काला, लाल, गोलाकारादि, ये दो माया के अंश हैं। है, भान होता है, प्यारा है, यह ब्रह्म का घट में अन्वय है। फिर घट फूट गया, माया के दोनों अंश नाम रूप जाते रहे। घट में माया के दोनों अंशों का व्यतिरेक है, और ब्रह्म का फिर भी अन्वय है। कैसे टूक हैं, भान होते हैं, प्यारे हैं, है, भान होते हैं, प्यारे हैं, यह ब्रह्म के तीनों अंश वैसे ही हैं, फिर उन टूकों का काल पाकर चूर्ण होगया, माया के जो अंश नाम रूप थे वे दोनों नाश होगये, माया के दोनों अंशों का चूर्ण में व्यतिरेक है, और ब्रह्म का अन्वय है, चूर्ण है, भान होता है, प्यारा है, फिर वह चूर्ण भी काल पाकर नाश होगया, नामरूप माया के दोनों अंश नाश होगये। चूर्ण में माया के अंशों का व्यतिरेक है, और ब्रह्म का

अन्वय है । जैसे चूर्ण का अभाव है, भान होता है, प्यारा
ये तीनों अंश जैसे प्रथम घट में थे, वैसे ही घट के अभाव में
इसी प्रकार सब पदार्थों में अन्वय-व्यतिरेक करके ब्रह्म निश्च
करना तीनों अवस्था में भी अन्वय-व्यतिरेक जानना चाहिये
जाग्रत् अवस्था में स्वप्न सुषुप्ति का व्यतिरेक है, आत्मा का अन्व
है । स्वप्न-अवस्था में जाग्रत् सुषुप्ति का व्यतिरेक है, आत्मा
अन्वय है । सुषुप्ति अवस्था में जाग्रत् स्वप्न का व्यतिरेक है आत्
का अन्वय है । तुर्या अवस्था में जाग्रत्-स्वप्न सुषुप्ति का व्यति
है, आत्मा का अन्वय है, इसी प्रकार बुद्धिमान् सब जगह विच
करे । प्रसंग यथा युक्ति करके भी जगत् का बाध है, उसका
क्रम है, समस्त स्थूल प्रपंच को स्थूल महाभूतों में मिला दे,
निश्चय करे, पंचभूतों से पृथक् कुछ नहीं, फिर स्थूलभूतों
और सूक्ष्म पंचभूतों के कार्य इन्द्रिय मनादि को पञ्च सूक्ष्म
में मिला दे, फिर पृथ्वी को जल में, जल को तेज में, तेज
वायु में, वायु को आकाश में, आकाश को अहंकार में, अहंक
को महत्तत्त्व में, महत्तत्त्व को अज्ञान में । अज्ञान मिथ्या है
शुक्ति में रजत । फिर अज्ञान को शुद्ध चैतन्य में मिला दे फिर स
अभ्यास केवल करके यों ही चिन्तवन करता रहे, मैं शुद्धब्रह्म
सच्चिदानन्द, परिपूर्ण, नित्यमुक्त हूँ । जो कभी व्यवहार-दशा
प्रपंच प्रतीत हो, तो वैसे ही अन्वय-व्यतिरेक करके चैत
से पृथक् कुछ न जाने । जैसे किसी मृग को रेती में यह भ्रान्ति
हुई, यह जल है, वहाँ गया, नेत्र सींग और पैर से भले प्रका
निश्चय किया कि यह जल नहीं है । फिर मृग उसी जगह आ
कर जो देखता है, तो वहाँ फिर भी भ्रान्ति से जल प्रतीत हो
है, परंतु फिर यह जानता है कि यह जल नहीं है, भ्रान्ति है

जो पशु की यह बुद्धि है कि उस मृगतृष्णा में फिर नहीं प्रवृत्त होता है । बुद्धिमान् कि जिसने श्रुति, स्मृति, युक्ति और अनुभव करके ब्रह्म का निश्चय किया है, वह कैसे संसार को सत्य जानेगा । संसार का मिथ्याभास भी उसको तबतक है कि जबतक प्रारब्ध कर्म का रचा हुआ जो शरीर नाश नहीं होता है, पीछे उसके मुक्तरूप है, युक्ति करके संसार का बाध यही है कि संसार को मिथ्या समझ लेना २, और मैं ब्रह्म हूँ, यह महावाक्य श्रवण करके जो हुआ अपरोक्ष ज्ञान और ब्रह्म को साक्षात् करके अज्ञान की जो निवृत्ति सो प्रत्यक्ष बाध है ऐसे तीन प्रकार करके संसार का बाध करना, इसको अपवाद कहते हैं । अध्यारोप अपवाद करके 'तत्त्वम्' पदार्थों का साधन भी हुआ है, सोई दिखाते हैं । माया से लगाकर स्थूल समष्टि प्रपंच जड़ १, और उस करके उपहित चैतन्य २, और दोनों का आधार अनुपहित चैतन्य ३, ये तीनों पृथक् हैं और इन तीनों का तप्त लोहे के पिण्डवत् एक प्रतीत होना, यह तत्पद का वाच्यार्थ है, और पृथक् जो अखंड चैतन्य सो तत्पद का लक्ष्यार्थ है, और अविद्या से लगाकर स्थूल व्यष्टि प्रपंच जड़ १, और उस करके उपहित चैतन्य २, और इन दोनों का आधार अनुपहित अखंड चैतन्य ३, ये तीनों पृथक् हैं, और इन तीनों का तप्त लोहे के पिण्डवत् एक प्रतीत होना, यह 'त्वम्' पद का वाच्यार्थ है और पृथक् अखंड चैतन्य 'त्वम्' पद का लक्ष्यार्थ है । इन दोनों 'तत्' और 'त्वम्' पद के लक्ष्यार्थ को ग्रहण करके और वाच्यार्थ को मिथ्या जानकर वाच्यार्थ का त्याग करके तीन संबंध के सहित जहदजहत् लक्षण करके सो यह देवदत्त है इस लौकिक वाक्यवत् 'तत्त्वमसि' यह महावाक्य अखंडार्थ का बोधक है । तीन संबंधों का अर्थ बिना कुछ शास्त्र के पढ़े हुये भले प्रकार

नहीं जाना जाता है, न भले प्रकार भाषा में लिखा जाता है इसलिये कुछ तात्पर्य लिखे देते हैं। सामानाधिकरण्य १, विशेषण-विशेष्यभाव २, लक्ष्य-लक्षण-भाव ३। समान है अधिकरण जिसका, सो सामानाधिकरण्य। जो जिसमें रहे, उसको अधिकरण कहते हैं। किसी ने कहा, सो यह देवदत्त है, सो अर्थात् काशी में तुमने हमने १६ वर्ष की अवस्था में गृहस्थ आश्रम में जो देखा था सोई यह अर्थात् अब हरिद्वार में ३० वर्ष की अवस्था में दीखता है, सो यह देवदत्त है। पूर्व काशी १६ वर्ष की अवस्था का और हरिद्वार ३० वर्ष की अवस्थादि का त्याग करके केवल देवदत्त के पिंड मात्र में दृष्टि करके यह अर्थ बैठता है कि सो यह देवदत्त है। कहे हुए अर्थ को कुछ त्याग देना और कुछ ग्रहण लेना इसको जहदजहत्लक्षणा कहते हैं। सो यह 'देवदत्त' इस वाक्य का अर्थ 'जहदजहत्लक्षणा' करके हो सकता है। जैसे इस वाक्य में जहदजहत्लक्षणा है ऐसे और वाक्यों में भी किसी में 'जहत्लक्षणा' किसी में 'अजहत्लक्षणा' है। तात्पर्य यह कि जिस वाक्य का अर्थ बुद्धि में न बैठता हो, कुछ विरुद्ध प्रतीत होता हो, तो उस वाक्य का अर्थ लक्षणा, शक्ति व्यञ्जनादि करके निश्चय करते हैं। उन वाक्यों के बहुत उदाहरण लिखने से विस्तार होता है, इसलिये थोड़े से उदाहरण लिखते हैं, और उनके लिखने का यहाँ कुछ प्रयोजन भी नहीं है।

जहत्लक्षणा वह है कि कहे हुये वाक्यार्थ का त्याग करना और बनाकर लक्षणा करनी जैसे किसी ने कहा गंगा में गाँव है वहाँ से दूध ले आओ। उसने विचारा, गंगाजी में गाँव का होना नहीं बनता, इस हेतु से गंगाजी के तीर के गाँव से दूध ले आया। तात्पर्य कहनेवाले का तीर में था। 'जहत्लक्षणा' से यह अर्थ

बन सकता है, 'अजहत्लक्षणा' वह है कि कहे हुये वाक्यार्थ को ग्रहण करके और भी कुछ अर्थ बनाकर लक्षणा करनी। जैसे किसीने कहा कि दूध की कौओं से रक्षा करते रहना। उसने 'अजहत्लक्षणा' करके कौओं से भी रक्षा करी, औरों से भी रक्षा करी, क्योंकि तात्पर्य दूध की रक्षा में था। जैसे पंकज का अर्थ यह है कि जो कीच से उत्पन्न हो, सो पंकज विचारो, कीचसे बहुत वस्तु कसेरू आदि उत्पन्न होते हैं, परंतु पंकज की शक्ति कमल में ही है, वाक्यार्थ के तात्पर्य को समझना, यह व्यंजना है। जैसे किसी स्त्री का पुरुष विदेश को जाता था। स्त्री ने चलते समय प्रार्थना की कि जहाँ आपका जाना हो उसी जगह मेरा भी जन्म होवे, अर्थात् आपके जाते ही मेरे प्राण छूट जावेंगे। प्रसंग सामानाधिकरण्य कथा सो सुनो। सो और यह पद इन दोनों का जैसे देवदत्त का पिण्ड अधिकरण है। ऐसे 'तत्' 'त्वम्' इन पदों का शुद्ध चैतन्य अधिकरण है। तत्, त्वम् पदों का सामानाधिकरण्य संबंध है, जैसे सो यह ऐसा कहो, वा यह सो ऐसा कहो, ऐसे तत् त्वम् ऐसा कहो वा त्वम् तत् ऐसा कहो, यह 'तत्' 'त्वम्' पदार्थों का विशेषण-विशेष्यभाव संबंध है, जैसे सो यह इन शब्दों का। और इनके अर्थों का लक्ष्य-लक्षणभाव संबंध है। सो ये दोनों पद तो लक्षण हैं, और इन लक्षणों से जो लखा जावे, सो लक्ष्य देवदत्त का पिण्ड है। ऐसे 'तत्' और 'त्वम्' पदों के और उनके अर्थों का लक्ष्य-लक्षण भाव संबंध है। 'तत्' और 'त्वम्' ये पद तो लक्षण हैं और इन लक्षणों से जो लखा जावे, सो लक्ष्य एक शुद्ध चैतन्य है, इस प्रकार तीन संबंध करके अखण्डार्थ का बोध होता है। जीव की जो उपाधि अविद्या अल्पज्ञतादि और ईश्वर की उपाधि माया

सर्वज्ञतादि इन दोनों उपाधियों का 'जहदजहत्-लक्षणा से त्या करके तात्पर्य' तत्-त्वम् पदों के वाच्यार्थ का त्याग करके लक्ष्यार्थ ग्रहण करके केवल एक शुद्ध चैतन्य में लक्षणा करनी। तब 'तत्त्वमसि' इस महावाक्य का अर्थ अखंडार्थ निश्चय होता है। अखंड किसको कहते हैं सुनो। स्वगत १, जैसे वृक्ष में पत्र पुष्पादि का भे और सजातीय २, जैसे अनार आम्रादि का भेद, और विजाती ३, जैसे वृक्ष और पाषाणादि का भेद, इन तीन भेदों को जो रहित सो अखंड अथवा देश, काल और वस्तु करके प रिच्छिन्न न हो, सो अखंड सारे व्यापक होने से तो ब्रह्म दे परिच्छिन्न नहीं, और नित्य होने से कालपरिच्छिन्न नहीं, औ सबका आत्मा होने से वस्तुपरिच्छिन्न नहीं, जो इस शरीर सच्चिदानन्द भान होता है वही ब्रह्म है। और जिसको ब्र कहते हैं, वही सच्चिदानन्द है। जब ऐसा ज्ञान हुआ तब 'त्व पद का अर्थ जो जीव समझ रक्खा था, वह उसी समय जा रहता है, और 'तत्' पद का अर्थ जो परोक्ष था, तो भी समय अपरोक्ष हो जाता है। फिर इस ज्ञान से जो होता सो सुनो। जो प्रथम 'त्वम्' पद का अर्थ जीव समझ रक्खा थ सोई अपरोक्ष परमानन्दरूप करके शेष रह जाता है। इस प्रक 'तत्त्वमसि' जो महावाक्यादि उनका अर्थ श्रवण करने से औ मनन और निदिध्यासन करने से जो हुआ अपरोक्ष ज्ञान उ ज्ञान करके अज्ञान की जो निवृत्ति और परमानंद की प्राप्ति इस का नाम मोक्ष है।

दूसरा अध्याय समाप्त हुआ।

तीसरा अध्याय।

कर्मकांडी और उपासनावाले स्वर्ग वैकुंठादि की प्राप्ति को सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य, सायुज्य नाम करके मुक्ति कहते हैं, सो नाममात्र मुक्ति है । अनित्य होने से साक्षात् मुक्ति नहीं। जैसे किसी पुरुष को कहना कि यह पुरुष सिंह है, वह पुरुष साक्षात् सिंह नहीं, उसमें सिंह के से गुण हैं, ऐसे साक्षात् मुक्ति में जो गुण दुःखों की निवृत्ति और परमानंद की प्राप्ति ये दोनों उनमें भी थोड़े-थोड़े हैं ।

दूसरे अध्याय के अंत में जो मुक्ति कही है, सो मुक्ति दो प्रकार की है—जीवन्मुक्ति १, विदेहमुक्ति २। जीवन्मुक्ति तीन प्रकार की है—श्रेष्ठ १, मध्यम २, कनिष्ठ ३। जीते हुए उस आनंद को सदा प्राप्त रहना अर्थात् स्वभाव करके निर्विकल्प समाधि रहनी श्रेष्ठ जीवन्मुक्ति १। प्रयत्न करके बहिर्मुख अन्तःकरण की वृत्तियों को निरोध करना मध्यम जीवन्मुक्ति २। यद्यपि दुःख सुखादि अन्तःकरण के धर्म होने से आत्मा के साथ उनका संबंध नहीं है, यह विचार भी है, तो भी दुःखादि के संबंध करके अन्तःकरण का व्याकुल हो जाना, यह कनिष्ठ जीवन्मुक्ति ३। देहपात के पीछे उस आनंद को प्राप्त होना विदेहमुक्ति, श्रेष्ठ जीवन्मुक्ति का यह नियम नहीं कि सब ज्ञानियों को श्रेष्ठ जीवन्मुक्ति हो । जैसे औषध करने से रोग की शांति होती है, ऐसे प्रयत्न करने से श्रेष्ठ जीवन्मुक्ति भी सम्पादन होसकी है । परंतु कुछ नियम नहीं कि औषध करने से नियम करके रोग जाता रहता है, पुरुषार्थवादी तो यों ही कहते हैं कि प्रयत्न मुख्य है, जो श्रेष्ठ जीवन्मुक्ति किसी

प्रतिबंध करके सम्पादन न हो सके, तो कुछ विदेहमुक्ति में संदेह नहीं, इस बात को सिद्ध करते हैं। ज्ञान की सात भूमिका हैं। तीन प्रथम की—ज्ञान की साधन भूमिका हैं, इसलिये वे भी ज्ञान की भूमिका कही जाती हैं। चौथी में अपरोक्ष ज्ञान होता है। पिछली तीन जीवन्मुक्तिभूमिका हैं। प्रथम का लक्षण यह है शौच, स्नानादि आचार, गंगाजी से आदि लेकर तीर्थों का सेवन, विष्णु-शिवादि की पाषाणादि मूर्त्तियों की पूजा, अश्वमेध यज्ञ से आदि लेकर यथाशक्ति ब्राह्मण, अतिथि, अभ्यागतों को अन्न वस्त्रादि देने, ऐसे-ऐसे और भी बहुत कर्म हैं, यह प्रथम भूमिका १। सगुण परमेश्वर के गुणानुवाद सुनकर परमेश्वर में अनुराग होना और परमेश्वर के भक्त जो साधु और ब्राह्मण उनमें प्रीति होनी और मन, वाणी, शरीर और धन से उनका सत्कार करना, जो कदाचित् साधु अपने घर चले आवें, तो मन को आनन्द होना, यह जानना हमारा बड़ा भाग्य है, यह मन से सत्कार है। और वाणी से ऐसा बोलना महाराज आपका आना बहुत सुन्दर हुआ आप जंगम तीर्थ हो, हमारे पवित्र करने के लिये आप आये हो और शरीर से हाथ जोड़कर खड़ा हो जाना, चरणसेवा से आदि लेकर टहल करनी, अथवा और जगह महात्मा ठहर रहे हों, वहाँ जाकर सेवा करनी और धन से यथाशक्ति अन्न-वस्त्रादि देने, और नित्यानित्य वस्तु का विचारना, ऐसे-ऐसे कर्मों से आदि लेकर भी बहुत कर्म हैं, यह दूसरी भूमिका २। संसार के पदार्थों को दुःखरूप अनित्य जानकर उनसे वैराग्य होना, जैसा श्रीरामचन्द्रजी को वैराग्य हुआ है, वाशिष्ठ-ग्रन्थ में वह कथा प्रथम ही वैराग्यप्रकरण में प्रसिद्ध है, और साधन-चतुष्टय-सम्पन्न होकर वेदान्त-शास्त्र का श्रवण करना यह तीसरी भूमिका ३। शुभे-

में रजतवत् संसार को मिथ्या जानकर अपने निज स्वरूप का बोध हो जाना कि मैं यह हूँ यह चौथी भूमिका ४। और यही विदेह मुक्ति में हेतु है। चौथी भूमिकावाले का लक्षण यह है कि जैसे कोई पुरुष समुद्र के तीर खड़ा है, जो जल की तरफ़ को देखता है, तो जल ही जल दीखता है। और जब पीछे को देखता है तब मंदिर वृक्षादि ही दीखते हैं। ऐसे जब वह पुरुष अपने स्वरूप का अनुसंधान करता है, तब संसार का अभाव और अपना स्वरूप साक्षात् प्रतीत होता है। और व्यवहार के समय संसार के दुःख सुख शोक-मोहादि जैसे पहले थे, वैसे ही भुने अन्नवत् प्रतीत होते हैं। जैसे भुना अन्न भूख दूर करने को समर्थ है, जमने को समर्थ नहीं, ऐसे उस ज्ञानी को व्यवहार सुखदुःखादि का हेतु है, परंतु जन्म का हेतु नहीं। और अज्ञानी की बराबर उसको दुःख-सुख भी नहीं होते, इस बात को भी अभी आगे दृष्टान्त देकर सिद्ध करेंगे। चौथी भूमिका में शरीर या तो चाण्डाल के घर में, या काशी में छूटे, आनंदपूर्वक छूटे, या मूर्च्छा रोग होकर लोटते-पोटते छूटे, मुक्ति में संदेह नहीं। वह मुक्त उसी समय होगया, जिस समय उसको ज्ञान हुआ, मूर्च्छादि होने से ज्ञान का नाश नहीं होता, जैसे विद्या को स्वप्न, सुषुप्ति, मूर्च्छादि में भूल भी जाता है, परंतु कुछ अगले दिन नहीं बढ़ता ४। पाँचवीं भूमिका का लक्षण यह है कि जैसे कोई पाव कोश समुद्र में आधे शरीर जल में खड़ा हो, उसको बहुत विचारने से समुद्र के तीर के मंदिर वृक्षादि देखा करते हैं, वैसे उसको संसार का व्यवहार बहुत किसी के सुनने देखने से प्रतीत होता है ५। छठी भूमिका में गले तक जल की कल्पना कर लेनी ६। सातवीं भूमिका में जल में प्रवेश हो जाना। सातवीं भूमिकावाले

का शरीर हद वीस दिन रहता है, क्योंकि भोजनादि का अभाव हो जाता है ७। चौथी भूमिकावाले से लेकर सातवीं तक एक से एक सिवाय ब्रह्मवित् कहे जाते हैं, ब्रह्मवित् ४ ब्रह्मविद्वर ५ ब्रह्मविद्वरीयान् ६ ब्रह्मविद्वरिष्ठ ७। मूर्ख यौंहीं कहते हैं कि जैसा हमने पाँचवीं, छठीं और सातवीं भूमिका का लक्षण लिखा है, ऐसे ज्ञानी होते हैं, और चौथी भूमिकावाले में वहुत तर्क करते हैं, उनके पूर्वपक्ष के तर्कों का खंडन वेदान्त-शास्त्र में वहुत लिखा है, कुछ एक लेशमात्र यहाँ भी लिखते हैं।

शंका—जो खावे-पीवे नहीं और शरीर इन्द्रियादि करके चेष्टा न करता हो, सो ज्ञानी है ?

उत्तर— ज्ञान क्या हुआ, रोग हुआ, ऐसे तो रोगी होते हैं। रोगियों को भी ज्ञानी कहना चाहिए।

शंका—जिसको दुःख सुख न प्रतीत होता हो, सो ज्ञानी है ?

उत्तर—दुःख सुख का अभाव जड़ पदार्थों में होता है, वे ज्ञानी हैं।

शंका—संसार का अनुभव न होना यह ज्ञान का लक्षण है ?

उत्तर—संसार तो सुषुप्ति, मूर्च्छा, प्रलयादि में भी अनुभव नहीं होता, वहाँ भी तो संसार का वाध है।

प्रश्न—फिर संसार का क्या वाध है, और क्या ज्ञान का लक्षण है ?

उत्तर—संसार का यही वाध है कि जो दूसरे अध्याय में तीन प्रकार का वाध लिख आये हैं, और ज्ञान का भी यही लक्षण है कि जवतक जो शरीर प्रारब्ध कर्म का रचा हुआ नष्ट नहीं होता, तवतक संसार को मिथ्या समझना। तात्पर्य—जवतक संसार में स्वरूप से मर्दन नहीं होसका, क्योंकि मिथ्या पदार्थ को

मिथ्या जानने से उसका अभाव नहीं होता । जैसे बाजीगर के पदार्थ मिथ्या जानने से स्वरूप करके मर्दन नहीं होते, इस प्रकार यह संसार रहता है, परन्तु देहपात के पीछे स्वरूप से भी मर्दन होता है, इसमें वेद प्रमाण है । अन्यथा वशिष्ठादि ब्रह्मज्ञानी थे इसमें क्या प्रमाण है ।

शंका—ज्ञान तो होगया फिर प्रारब्ध कर्म का फल दुःखादि क्यों न नाश हुआ ?

उत्तर—तीर ने पुरुष को भेदन तो कर दिया, आगे क्यों चला । और दूसरे कुम्हार ने बरतन उतारने के लिये चाक घुमाया, बरतन तो उतार लिया, फिर चाक क्यों घूमता है ।

शंका—ज्ञान ने संसार को स्वरूप से और प्रारब्ध कर्म को क्यों न नाश किया ?

उत्तर—प्रारब्ध कर्म और यह संसार मिथ्याभास मुर्दे की नाईं कुछ ज्ञान के विरोधी नहीं, प्रत्युत ज्ञान को उत्साह बढ़ानेवाले हैं । जैसे किसी पुरुष की मारी हुई हज़ारों लाशें पड़ी हों, वह शूर उनको देख-देख आनन्दित होता है ।

शंका—जो ज्ञानी पूर्ववत् संसार के भोग भोगता रहा, तो ज्ञानी और अज्ञानी में क्या भेद हुआ ?

उत्तर—ज्ञानी रागपूर्वक संसार के भोग नहीं भोगता, जैसे किसी के शिर पर कोई बेगार रख दे, तो क्या बेगार के उठाने में उसको उत्साह है ।

शंका—बेगारी को तो दुःख होता है, जो ज्ञानी को भी दुःख हुआ, तो ज्ञान का क्या फल हुआ ?

उत्तर—ज्ञानी का दुःख मुक्ति के आनन्द में दबा रहता है । जैसे दो बेगारी हैं । एक जानता है कि मैं दो घड़ी में छूटूँगा, दूसरा

नहीं जानता कि मैं कब छूटूँगा । हे वादी ! विचार देख, दुःख दोनों को सम प्रतीत होता है, परन्तु जाननेवाले को थोड़ा दुःख है, नहीं जाननेवाले को बहुत दुःख है । ऐसे ज्ञानी अज्ञानी के दुःख में बहुत भेद है ।

शंका—तुम तो जैसे प्रथम थे, वैसे ही अब भी दीखते हो, ज्ञानी होकर कुछ और प्रकार के न हुए ?

उत्तर—जिस समय तुमको रज्जु में सर्प की भ्रांति हुई थी, उसको देखकर कँपने लगे थे, और गिरकर चोट लग गई थी, फिर किसी के उपदेश और अपनी युक्ति से रज्जु का अनुभव किया।

प्रश्न—क्या आपकी सूरत भी बदली थी ?

उत्तर—मेरी सूरत तो नहीं बदली थी, परंतु अन्तःकरण की वृत्ति बदल गई थी।

प्रश्न—फिर हमारे अन्तःकरण के साक्षी क्या तुम हो ?

उत्तर—जैसे भ्रांति के समय तुमको कंप थी, पीछे निवृत्त हो गई, सूरत न बदली, ऐसे हमको भ्रांति थी, सो निवृत्त होगई। अपने अन्तःकरण के हम साक्षी हैं ।

शंका—तुम कहते हो जो जगत् अज्ञान का कार्य है, वह अज्ञान तो नाश होगया, कार्य उसका कैसे बना रहा ?

उत्तर—भ्रांति के समय जो तुमको कंप होती थी, और गिर कर चोट लगी थी, फिर जिस समय वह भ्रांति दूर हुई, कार्य उस भ्रांति का वह कंप और वह चोट उसी समय जाती रही थी।

प्रश्न—कहता हूँ कंप तो दो घड़ी के पीछे और चोट दस दिन के पीछे गई थी ?

उत्तर—आश्चर्य की बात है जो घड़ी भर भ्रांति नहीं रही, उसका कार्य तो दस दिन के पीछे गया, और हमारा अज्ञान

परार्द्ध संख्या से भी परे का था, वह नाश हुआ है, उसके कार्य को कहते हो कि उसी समय क्यों न जाता रहा । शरीर-पात के पीछे कार्य भी नाश हो जावेगा, और भी बहुत दृष्टान्त हैं, वृक्ष कटने के पीछे वैसा ही हरा प्रतीत होता है, और किसी वस्त्र वा पात्र में गंध रक्खी हो, पीछे निकालने के भी कई घड़ी गंध बनी रहती है, और किसी को स्वप्न में सिंह ने झड़पाया, वह जाग उठा, देखता है कि सिंह नहीं, परंतु कंप दो घड़ी पीछे जाती है ।

शंका—यह जो तुम भोग भोगते हो, ये ज्ञान को नष्ट कर देंगे ?

उत्तर—जीते हुए चूहे ने बिलाई को न मारा, तो मरा क्या मारेगा । और जैसे कोई वज्र लगने से न मरा, तो क्यों वह तुली के तीर से मरेगा । जिस काल में अज्ञान बड़ा हुआ था, उस समय तो ज्ञान नाश हुआ नहीं, अब तो उस अज्ञान को ज्ञान ने नाश कर लिया, उसका कार्य ये अन्न भक्षणादि तुच्छ पदार्थ ज्ञान को क्या नष्ट करेंगे । और दूसरे जो पुरुष चोर जार को जानता है, वे चोर जार उसके बुरे होने का प्रयत्न नहीं करते और डरते रहते हैं । और जो प्रयत्न करें भी, तो वह चैतन्य है, ऐसे ज्ञानी इन भोगरूप चोरों को जानता है । और तीसरे कोई स्त्री नेत्र शरीरादि करके तो सुन्दर हो, परंतु उसकी उपस्थ इंद्रिय में गरमी का विकार हो, जो उस विकार को जानता है, उसको उस स्त्री के हावभाव कटाक्ष नहीं मोहते, न वह स्त्री उसके सामने हावभाव कटाक्ष करती है । ऐसे ज्ञानी इस मायारूपी स्त्री के अवगुणों को जानता है ।

शंका—जो तुम सदा 'ब्रह्माहमस्मि', 'ब्रह्माहमस्मि' ऐसा अनुसंधान न करते रहोगे, तब तो ब्रह्मज्ञान नष्ट हो जावेगा ?

उत्तर—तुम 'ब्राह्मणोऽहम्', 'ब्राह्मणोऽहम्' इसका

सदा अनुसंधान न करोगे, तो भूल जावोगे। जैसे तुम अपनी जाति को नहीं भूलते, वैसे हमने एक वार वस्तु का निश्चय कर लिया है, वह हमारा ज्ञान कैसे जाता रहेगा और आपका निश्चय तो झूँठा है, एक युक्ति से जाता रहता है, यों भी कहता है कि मेरा शरीर है, और यों भी कहता है कि मैं ब्राह्मण हूँ, कितना विरोध है, ऐसा निश्चय तो आपका विना अनुसंधान के बना रहेगा और हमारा जो निश्चय है कि सहस्रों श्रुति, स्मृति, युक्ति और अनुभव करके और तुम-सदृश वादियों के मतों को खंडन करके जो निश्चय किया है, वह विना अनुसंधान के जाता रहेगा।

शंका—जिनको शाप-अनुग्रह की सामर्थ्य होती है, वे ज्ञानी हैं।

उत्तर—शाप-अनुग्रह ज्ञान का फल नहीं, तप का फल है।

शंका—ज्ञान विना तप के कैसे हुआ ?

उत्तर—तप दो प्रकार का है। एक तप शाप-अनुग्रह की सामर्थ्य करा देता है, और एक तप ज्ञान को उत्पन्न करता है।

शंका—व्यास, वशिष्ठ, सनकादि भी तो ज्ञानी हैं ?

उत्तर—उनके दोनों प्रकार का तप है, हमारे एक ही है, दूसरे तप न होने में कुछ ज्ञानी की क्षति नहीं है, जैसे जौहरी वस्त्रादि की परीक्षा न कर सके, तो उस जौहरी की क्या क्षति है, ऐसे ही गंडा, तावीज प्रेतादिकों के मन्त्रादि न जानता हो तो क्या ज्ञानी की क्षति है। तात्पर्य ऐसे-ऐसे तर्कों का खंडन बहुत वेदान्त-शास्त्र में लिखा है। मुक्ति की इच्छावाला ऐसे-ऐसे वादों में बुद्धि को न समाप्त करे, केवल वेद-वाक्य में विश्वास करे और जो पुराणादि में जड़भरतादि लिखे हैं, कोई कहे कि ऐसे ज्ञानी होते हैं, तो क्या उसके मुख में मारने के लिये श्रुतिरूप वज्र नहीं है। तात्पर्य—वेद ऐसा भी कहते हैं, जैसे जड़भरतादि हुए

हैं और ऐसा भी कहते हैं, ज्ञानी अपनी अवस्थावालों के साथ विहार करता हुआ और सवारियों में बैठा हुआ स्त्रियों के साथ रमता हुआ वह ज्ञानी अपनी दृष्टि में कुछ नहीं करता है। वशिष्ठ, याज्ञवल्क्य से आदि लेकर बहुत प्रसिद्ध हैं, और जनक चुड़ालादि बहुत स्त्री तक ज्ञानी हुए हैं, क्या सब जड़भरतवत् आचरण करते थे। तात्पर्य यों है, मूर्ख लोग शास्त्र के एकदेश को सुनकर वेद-शास्त्र के तात्पर्य को न जानकर कुछ-न-कुछ बकते हैं, उनका निश्चय उनके लिये हो हमको क्या काम है, हम सिद्धान्त कहते हैं। प्रथम तो जड़भरतादि भी खाना, सोना आदि त्याग करके काष्ठ-पाषाणवत् नहीं रहे किंतु संग की ओर से उदासीन रहते थे, क्योंकि संगी लोगों करके बाध हो जाता है और निःसंग सुख को प्राप्त होता है, इसलिये सदासुख की इच्छावालों ने संग त्याग देना ज्ञान की परीक्षा लिखी। वैराग्य, उपरति बोध का हेतु १, स्वरूप २, कार्य ३, अवधि ४, इन चार भेद करके लिखते हैं, वैराग्य के हेतु आदि ये हैं—

शब्दादि विषयों में दोष-दृष्टि होनी १, त्याग देना २, फिर भोगों में दीनता न होनी ३, ब्रह्मलोक को तृणवत् समझना ४।

उपरति के हेतु आदि ये हैं—यमनियमादि १, अंतःकरण का निरोध २, व्यवहार का बहुत कम हो जाना अर्थात् खाने-सोने में भी संकोच ३, सुषुप्तिवत् जाग्रत् अवस्था रहनी ४।

बोध के हेतु आदि ये हैं—श्रवणादि १, तत्त्व मिथ्या का जान लेना २, फिर ग्रन्थि का उदय न होना अर्थात् देहादि में अहंबुद्धि न होनी ३, जैसे प्रथम देहादि में अहंबुद्धि थी, वैसी ही स्वरूप में दृढबुद्धि हो जानी ४।

मुक्ति की इच्छावालों के वैराग्यादि के हेतु आदि तारतम्यता

करके रहते हैं, क्योंकि सबके कर्म एक प्रकार के नहीं, इन सबों जो वैराग्यादि के हेतु आदि लिखे हैं, उनमें तत्त्व मिथ्या जान लेना, जो बोध का स्वरूप लिखा है, यही मुक्ति का कारण है और सब ज्ञानियों के यही एक रस है, जो वैराग्यादि के हेतु आदि ऊपर लिखे हैं, वैसे जो किसी के हों, तो बहुत पुण्य का फल है, उससे सिवाय कोई पुण्य नहीं और जो किसी प्रतिबंध करके तीनों एक जगह न देखने में आवें, तो उनके फल ऐसे होंगे कि वैराग्य, उपरति तो पूर्ण हो, बोध किसी प्रतिबंध से न हो, तो मुक्ति नहीं होगी। तप के बल से ब्रह्मसाक्षात्कार की प्राप्ति होगी, और जो बोध है वैराग्य, उपरति इस जन्म में देखने में न आवें, तो मुक्ति निश्चय होगी। परंतु जब तक यह शरीर रहेगा, हर्ष शोकादि आभासमात्र बने रहेंगे, बोध का स्वरूप सब ज्ञानियों के एकरस है वैराग्य उपरति में तारतम्यता है। जैसे १०० गौओं का दूध एकरंग एकरस होता है व्यक्तिगत दुबलापन मोटापन स्वभावादि पृथक्-पृथक् होते हैं, ऐसे ही १०० ज्ञानी होते हैं। ज्ञान सबका एकरस और व्यवहार, चलन, स्वभावादि सत्त्वादि गुणों की उपाधि से पृथक्-पृथक् अर्थात् किसी के सत्त्वगुण बहुत, किसी के रज और तम बहुत है। सत्त्वगुणी शुकदेव वामदेव, जड़भरत, सनकादिक और रजोगुणी जनक, चुड़ाला और तमोगुणी दुर्वासादि। सत्त्व, रज और तमोगुणी बहुत बर्तने से सत्त्वगुणी, रजोगुणी, तमोगुणी कहे जाते हैं। परंतु तीनों गुण सबके तारतम्यता करके वर्तते हैं। ज्ञान के होने और वैराग्य उपरति सिद्धि लक्ष्मी आदि के न होने में यह व्यवस्था है। ज्ञान उपरति, वैराग्य-सिद्धि, लक्ष्मी आदि पुण्य का फल है। जिसके पूर्ण पुण्य हुआ, जैसे जल से घट भरा रहता है उसके तो वैराग्य

उपरति, ज्ञानसिद्धि, लक्ष्मी आदि सब होते हैं और जो केवल ज्ञान ही हो, वैराग्यादि न हो, तो उससे भी थोड़े पुण्य का फल है और जो ज्ञान न हो, वैराग्य उपरति हो, तो उससे भी थोड़े पुण्य का फल है और जो वैराग्य ज्ञान तीनों न हों, सिद्धि लक्ष्मी आदि हों, तो उससे भी थोड़े पुण्य का फल है और जो सिद्धि वैराग्यादि न हों, केवल लक्ष्मी राज्यादि हों, तो उससे भी थोड़े पुण्य का फल है । राजा से लगाकर कंगाल पर्यंत पुण्य की तारतम्यता कल्पना कर लेनी । पुण्य की तारतम्यता से ज्ञानियों के वैराग्य की भी तारतम्यता कल्पना कर लेनी । जो तीनों वैराग्यादि किसी ज्ञानी के देखने में आवें, तो वह ज्ञानी ऐसा है जैसा मनुष्यों में चक्रवर्ती राजा, जैसे जड़भरत शुकादि हैं । ऐसा नहीं समझना कि जो ऐसे ही हों, वही ज्ञानी हैं और ऐसों ही की मुक्ति होती है ।

शंका—फिर ऐसे पुरुषों की शास्त्र में बहुत प्रशंसा क्यों लिखी है ?

उत्तर—ऐसे पुरुषों को जीवन्मुक्ति का बहुत आनन्द रहता है, जैसे चक्रवर्ती राजा को मनुष्यानन्द बहुत रहता है और जैसे राजा से जो कम लक्ष्मीवाले हैं उनको भी तो आनंद तारतम्यता करके रहता है और वे भी तो मनुष्य ही कहे जाते हैं ऐसे वैराग्य उपरति में कम जो ज्ञानी हैं, वे भी ज्ञानी हैं, अज्ञानी नहीं ।

शंका—ज्ञानी के लक्षण शास्त्र में ऐसे लिखे हैं । क्रोध, शोक, भय न होना, जितेन्द्रिय, क्षमा, वैराग्य, दया, निर्लोभ, दाता[1], सबका प्यारा होना ये ज्ञान के चिह्न हैं ऐसे वाक्यों की क्या गति होगी ?

उत्तर—ऐसे वाक्य प्रथम तो ज्ञान होने के लिये और ज्ञान

१—दाता होना अर्थात् अभयदान देना । अभयदान दो प्रकार का है—एक यह कि अपने शरीर, वाणी और मन से किसी को भय न देना । दूसरे ज्ञान का उपदेश करके संसार के दुःखों से अभय कर देना ।

के पीछे जीवन्मुक्ति की सिद्धि के लिये ताकीद में हैं । एकादशी व्रतवत् नियम नहीं, जो एक दाना भी अन्न का मुख में जा पे तो व्रत टूट जावे, ऐसे ही जो कभी किसी पाप के उदय होवे ज्ञानी को काम क्रोध आ जावे, तो ज्ञान ही जाता रहता है । कि काल में सनकादि महाज्ञानी श्रीनारायणजी के मिलने के लि वैकुंठ को गये थे और नारायण के पार्षदों ने जब उनको भीत जाने से मने किया, तब सनकादि को क्रोध आ गया और शाप दिया । अर्थ से यों भी प्रतीत होता है कि काम के विना क्रोध न आता, विचारो ज्ञान उनका नहीं जाता रहा और यह जो शंका कि वे ईश्वर थे, समर्थ थे, अर्थात् वे ईश्वर की कोटि में हैं, मनुष्य-कोटि में ऐसी-ऐसी अनेक कथाएँ पुराणों में, वेदों दुर्वासादि की प्रसिद्ध हैं । और दूसरे यह कि मुनि का न्याय कि जो समर्थ पुरुषों को, ईश्वरों को काम क्रोध आए तो जी का तो यह अनादि स्वभाव है । जीव को काम क्रोध के जाने में क्या आश्चर्य है ।

शंका––ज्ञानी का दूसरे को उपदेश करने से क्या काम है

उत्तर––ज्ञानी को जगत् में यही एक करने के योग्य कि जैसे बने अज्ञानी को ब्रह्मतत्त्व का उपदेश करे ।

शंका––श्रीभगवान् तो यह कहते हैं कि कर्मसंगी पुरुषों को कर्म से न हटावें ?

उत्तर––श्रीभगवान् ने कर्मसंगी पुरुषों का उसी जगह विशेष दे रक्खा है कि अज्ञानी कर्मसंगी को ब्रह्मतत्त्व का उपदेश न करे

शंका––ज्ञानियों की व्यवस्था तो ऐसी-ऐसी सुनी जाती है कि जब उनको ज्ञान हुआ, फिर वे किसी से न मिले, मौन होकर उत्तराखंड को चले गये ?

उत्तर--यह लक्षण अवधि का है, कोई ऐसा भी हुआ हो, परंतु सबका नियम नहीं, और दूसरे सत्ययुगादि ऐसे समय थे कि अस्थि आदि में प्राण बने रहते थे और कुछ कवि पुरुषों का नियम है कि बढ़ाकर लिखते हैं और जो यह न मानो, तो ग्रन्थों का बनना, उपदेश करना, यह बिना प्रवृत्ति के कैसे बने, विद्या का लोप हुआ समझना चाहिए। श्रीकृष्णचन्द्र महाराज कहते हैं कि ज्ञान के लिये गुरुजी के पास जावे, हे अर्जुन ! तुमको वे गुरु उपदेश करेंगे, देखिए जो प्रवृत्त होंगे, तो उपदेश करेंगे और जो बोलें बतलावेंगे नहीं, दृष्टांत युक्ति न देंगे, अथवा उनका पता ही न लगेगा, तो बोध कैसे होगा। वेद कहते हैं कि आचार्यवान् पुरुष ब्रह्म को जानता है। तात्पर्य यही है कि मूर्ख वेद-शास्त्र के हृदय को न जानकर कुछ का कुछ बकता है ऐसे-ऐसे सिद्धान्त शारीरक भाष्य, पंचदशी आदि ग्रन्थों में श्रुति, स्मृति आदि का प्रमाण दे देकर सिद्ध कर रक्खा है, जिस किसी को संदेह हो, वहाँ से निश्चय करे और जिसकी गुरु और वेदान्त में श्रद्धा है, वह तो संशय-विपर्यय-रहित होकर निश्चय मुक्त होगा।

तीसरा अध्याय समाप्त हुआ।

चौथा अध्याय।

जो किसी पुरुष को किसी पाप के प्रतिबंध से महावाक्य के अर्थ में अपरोक्ष का ज्ञान न होवे, तो वह फिर साधन करे। प्रथम अध्याय में जो विवेकादि चार साधन कहे हैं, मुख्य साधन वे ही हैं, उन्हीं चार को आचार्यों ने नाना प्रकार से, लाखों श्लोकों में और भाषा में कहा है। उन्हीं चारों का अर्थ स्फुट होने के लिये उन्हीं चार साधनों को अब और प्रकार से लिखते हैं। ज्ञान के साधन दो प्रकार के हैं। अंतरंग १ बहिरंग २। अंतरंग मुख्य है, बहिरंग गौण हैं। बहिरंग साधन ये कहलाते हैं—शौच, स्नान, संध्या-वंदन, वेद-शास्त्रों का पढ़ना, पाठ करना, तर्पण और हवन करना, अतिथि और अभ्यागत का पूजन करना, सेवा करनी, अन्न देना ऐसे-ऐसे और भी बहुत नित्यकर्म हैं, उनके न करने में पाप है, करने से पाप की निवृत्ति होती है और पुत्रादि के जन्मादि में जातकर्म, श्राद्धादि करने, पूर्णमासी संक्रांत्यादि में तीर्थों में जाना, स्नान-दान करना, निष्काम यज्ञ करने, ऐसे-ऐसे और भी बहुत नैमित्तिक कर्म हैं। और कोई अपने से खोटा काम शास्त्र से विरुद्ध हो जावे, उसकी निवृत्ति के लिये चान्द्रायणादि व्रत और श्रीगंगाजी में स्नानादि करने, ऐसे-ऐसे और भी प्रायश्चित्त कर्म हैं, और बद्रीनारायणादि के दर्शन करने, तीर्थों का सेवन करना, पाषाणादि मूर्त्तियों को पूजना, परिक्रमा करनी, झाँझ घंटादि बजाने, चौके धोती से रोटी खानी, यह खाना, यह न खाना, इस वर्तन में खाना, इस वर्तन में न खाना, इसके हाथ का खाना, इसके हाथ का न खाना, यह ब्राह्मण, यह

क्षत्रिय वर्णादि, यह ब्रह्मचारी, यह गृहस्थी आदि आश्रमी, इस प्रकार के और भी बहुत बहिरंग साधन हैं। पुराणों में तथा धर्मशास्त्र आदि में उनका बहुत विस्तार है, वहाँ से सुनकर संपादन करे। परम प्रयोजन उनका अन्तःकरण की शुद्धि है। बहिरंग प्रथम मंद-बुद्धि के लिये है, अंतरंग बुद्धिमान् के लिये है। बहिरंग साधन अंतरंग साधनों की इच्छा रखते हैं। और अंतरंग-बहिरंग साधनों की इच्छा नहीं रखते। और ऐसा जो कहते हैं कि कर्मकाण्ड और उपासना-कांड ज्ञान के साधन हैं, वहाँ जो व्यवस्था है, जो उपासना इस प्रकार की है कि पाषाणादि मूर्तियों का पूजन करना, और झाँझ घंटा बजाने, परिक्रमा करनी, और भी बहुत ऐसी-ऐसी उपासना का बहिरंग साधनों में अंतर्भाव है। और परमेश्वर का ध्यान करना, प्रेम करना, विषयों से निवृत्त कर चित्त को परमेश्वर में लगाना, ऐसी-ऐसी उपासना का अंतरंग साधनों में अंतर्भाव है। अंतरंग साधन ये कहलाते हैं—मन में मान नहीं रखना कि ऐसे पंडित जाति में ब्राह्मण धनवाले और अपने गुणों की औरों से श्लाघा कराने की इच्छा न रखनी, इसका नाम अमानित्व है १। धर्मध्वज न होना, जो अपने में थोड़े गुण हों, तो औरों के सामने बहुत नहीं प्रकट करने, ऐसा हम जानते हैं, ऐसी पूजा करते हैं, ऐसे-ऐसे पाखंडों का त्याग करना, इसका नाम अदम्भित्व है २। मन, वाणी, शरीर से किसी को दुःख न देना, इसका नाम अहिंसा है ३। बे प्रयोजन किसी ने आपको बुरा-भला, अथवा मार भी दिया, समर्थ होकर उसको कुछ न कहना, यह समझना कि प्रारब्ध का भोग है, इसका कुछ दोष नहीं, इसका नाम क्षमा है। प्रसन्न चेष्टा रखनी, नम्र होकर चलना, अकड़-ऐंठकर न चलना, नम्र बोलना, मन्द मुसुकानपूर्वक ऐसा बोले मानो मुख से फूल झरते

हैं, दूसरे का क्षोभित हृदय भी शान्त हो जावे, इसका नाम कोम
लता है ५ । गुरु की मन, वाणी और शरीर करके उपासन
करनी ६ । व्यवहार में छल न करना, अन्तःकरणगत जो दो
हैं, उनको दूर करना; इसका नाम अन्तःशौच है, और वहिःशौ
जल, मृत्तिका करके ७ । सन्मार्ग में स्थित रहना, जैसे जो जग
में कहानी है । जैसा कहा भी है—

"धर्म किये जो होवै हानि, तवहुँ न छोड़ धर्म की वानि।

एक इतिहास भी लिखते हैं । एक ब्राह्मण बाल्य अवस
से ठाकुरजी की सेवा करता था । कोई उससे पाप बुद्धिपूर्वक न
वना था । एक दिन उसको रास्ते में चार आदमियों ने घेर लिय
जो कुछ उसके पास था, छीन लिया और कहा कि तुमको मारें
ब्राह्मण ने विचारा कि मैंने बाल्य अवस्था से ठाकुरजी की सेवा
है, कोई पाप नहीं किया, ये मुझको वृथा मारते हैं, सो मा
परंतु जो ये कहें, तो ठाकुरजी को तो तीर्थ में पधार दूँ । वहाँ
पास जलाशय था, उनसे आज्ञा लेकर ठाकुरजी का सिंहासन
में लेकर कहा, हे परमेश्वर ! बाल्यावस्था से आपकी सेवा
थी, आज उसका यह फल है कि विना पाप मारा जाता हूँ ।
आकाशवाणी हुई कि तुमने पूर्व-जन्म में इन चारों को एक-एक
मारा था, यह पूजा का फल है, जो तुमको ये चारों एक वार मा
हैं । यह सुनकर चारों आदमी वहाँ गये, पूछा कि तुम किससे
करते थे । उसने कहा—"तुमको क्या काम है, जो मुझको मारना
तो मार दो । बहुत वार जो उन्होंने पूछा, तो फिर सब व्यव
ठाकुरजी की सेवा आदि की सुना दी । चारों ने उसको
दिया और जो कुछ उससे छीना था, दे दिया, और कहा कि
चारों तेरे पिछले किये का इस लोक और परलोक में बदला

चाहते ८। देह का निग्रह करना, रात्रि का जो बीच उसमें डेढ़ पहर सोना, उसके सिवाय आसन पर सीधा स्नानादि क्रिया के बिना बैठकर श्रवणादि करते रहना ६, शब्दादि विषयों से वैराग्य करना १०, अहंकार न करना कि मैं ऐसा वैराग्यवाला हूँ ११, जन्म, मृत्यु, जरा और व्याधि में दुःख और दोष भी हैं, वारंवार उनका अनुसंधान करते रहना, क्योंकि जब तक शरीर को किसी रोग ने नहीं ग्रसा, श्रोत्रादि इन्द्रिय भी बने रहते हैं, एवं जरावस्था भी जबतक नहीं आती, तबतक ही कुछ पुरुषार्थ हो सकता है। कोई कहे कि साहब जब प्यास लगेगी तभी कुँआ खोद लेंगे, पीछे की बात किसने देखी है। जैसे प्यास के समय वह त्राहि त्राहि करके मर जाता है, ऐसे ही जो बने काम में मोक्ष का उपाय नहीं करते, पीछे वही व्यवस्था होती है १२, पुत्र दारादि में आसक्ति न करनी, अनित्य जानकर प्रीति का त्याग करना १३, पुत्रादि के दुःख-सुख में यों अध्यासन करना कि मैं सुखी दुःखी हूँ १४, इष्ट-अनिष्ट की प्राप्ति में समचित्त रहना, क्योंकि लाभ, हानि, दिन, रात्रि, ऋतु, युगादिवत् बदलते रहते हैं। अष्टावक्रजी कहते हैं, कौन-सी वह अवस्था और काल है कि जिसमें प्राणियों को द्वंद्व, हर्ष, शोक, हानि, लाभ, सुख, दुःखादि नहीं रहते, जो पराये वश होनेवाले कार्य हैं, उनका जो प्रतीकार होता, तो नल, राम, युधिष्ठिरादि दुःख करके क्यों दुःखी होते १५, परमेश्वर के विषय अनन्य योग करके भक्ति करनी अर्थात् परमेश्वर के बिना नहीं है भजने के योग्य जिस भक्ति में ऐसी अव्यभिचारिणी भक्ति करनी। तात्पर्य यह कि सर्वात्मदृष्टि होना १६, एकांतदेश शुद्धचित्त का प्रसन्न करनेवाला हो, जिस जगह सिंह, सर्प, चोरादि की भीति न हो, और स्वयं स्त्री आदि करके

विक्षेप न होवे उस देश का सेवन करना १७, प्राकृत जो जन
जो स्त्री का संग और खाना सोना आदि इसी को कहते हैं कि
शरीर के होने का यही फल है, ऐसों के समीप नहीं बैठना १
वेदान्त-शास्त्र के श्रवणादि विचारने में सदा लगे रहना,
पदार्थों की जो शुद्धि उसी में निष्ठा रखनी, तीसरे अध्याय
भी लिख आये हैं कि ज्ञान के हेतु श्रवणादि हैं, ज्ञान के होने
ये मुख्य साधन हैं, इसी बात को प्रथम तो वेद भगवान् ने
है, फिर व्यासजी ने भी सूत्र में कहा है कि वारंवार श्र
करना एक ही वार न करना, पंचदशीकार भी कहते हैं
मन वाणी आदि तक को सावकाश नहीं देना, मरने सोने प
वेदान्त-शास्त्र की चिंता करके काल को विचारना, तात्पर्य
कि श्रीकृष्ण, श्रीशंकराचार्य भगवान् से आदि लेकर सब आ
इसी बात को सिद्ध करते हैं कि मुक्ति की इच्छावाले वेदान्त
वारंवार श्रवण करना, वेदान्त-शास्त्र के विना और पुराण-शा
का श्रवण न करना इसका भी नियम कर दिया है, क्यों
बुद्धि एक है, विचल न जावे । वशिष्ठजी भी कहते हैं, कर्म
है, जो बंधन के लिये न हो, विद्या वह है जो मुक्ति के
हो, निष्काम कर्म के विना और कर्म केवल आयास के लिये
ब्रह्म-विद्या के विना और न्यायशास्त्रादि चित्रकारी आदिवत्
है १९, इनके सिवाय इस देह का फल मुक्ति को समझ
मुक्ति के साधनों में ऐसे प्रलय करना, जैसे किसी के शरी
अग्नि लग जावे, वस्त्र, बाल जलने लगें, जैसे वह गंगाजी
दौड़ता है, जो कोई रास्ते में एक बात भी कर ले, अथवा
देकर खड़ा रक्खे, तो नहीं खड़ा होता । ऐसे संसार के ताप
तापित हुआ यह पुरुष ब्रह्म-विद्या गंगाजी को जल्दी प्रसन्न

प्राप्त हो । स्त्री, धन वस्त्रादि जो रचे हुए माया के झूँठे, अनित्य, दुःखदायी पदार्थ हैं, उनमें भोग-बुद्धि करके पतंगवत् नष्ट न हो २०, ये बीस साधन श्रीकृष्णचन्द्र ने गीता-शास्त्र में कहे हैं। और २६ साधन दैवी सम्पत् के कहे हैं । उनको भी सुनो। अभय होना किसी से इस लोक परलोक में भय न करना, तात्पर्य यह कि पापात्मा को भय हुआ करता है १, अंतःकरण को भले प्रकार शुद्ध करना २, ब्रह्मज्ञान का जो उपाय उसमें लगे रहना ३, दान करना यथाशक्ति कुछ अपने पास न हो, तो अभय दान देना ४, इन्द्रियों को अपने-अपने विषयों से रोकना ५, द्रव्य-यज्ञ चान्द्रायणव्रतादि, तप-यज्ञ, उपयज्ञ, पढ़ना, पाठ करना, यह यज्ञ चित्तवृत्ति-निरोध, योग-यज्ञ ऐसे-ऐसे यज्ञ से लगाकर ज्ञान-यज्ञ पर्यंत जैसा अपने को अधिकार हो, करते रहना ६, वेद-शास्त्रों का नित्य पढ़ना, पाठ करना ७, अपने धर्म का अनुष्ठान करना ८, कोमलता ९, अहिंसा १०, सत्य बोलना जो प्रत्यक्षादि प्रमाण करके भले प्रकार सिद्ध कर लिया है ११, क्रोध न करना, तत्काल पश्चात्काल केवल दुःख का हेतु है, जिस समय क्रोध आवे उस समय किसी प्रकार बितावे, पीछे विचारे, जो उस समय में ऐसा कहता व करता तो क्या होता १२, त्याग करना १३, चित्त को शान्त करना १४, पीछे किसी के अवगुण नहीं कहना। लिखा है कि जो किया हुआ अवगुण किसी का कहे, तो बराबर का पापी होता है, और जो कुछ भला कर बढ़ाकर कहे, तो दूना पापी होता है, जो अपने सामने किसी के अवगुण कहे, प्रथम उसी को पापी जाने १५, दया अर्थात् किसी को दुःख न देना, और जो बने, तो दूसरे का निवृत्त कर देना १६, लोलुप न होना, अर्थात् कुछ पदार्थ के लिये पामरों के सामने दीनता

न करनी १७, क्रूर कठोर चित्त न होना १८, खोटे कामों
लोक-लज्जा रखनी, वहां यह समझना कि मेरे निन्दा, स्तुति
मान, अपमान बराबर हैं १९, चपल न होना, अर्थात् वृथा क्रिया
न करनी २०, तेजस्वी रहना, राजा आदि की छाया में न दबना
जैसे और आदमी हैं ऐसे वे भी हैं २१, क्षमा २२, धैर्य-सत्य-गुण
अर्थात् दुःख-सुख, भूख-प्यास, लाभ-हान्यादि में चित्त को स्थिर
करना २३, शौच २४, किसी से द्रोह न करना २५, चार गुण
संपादन करने से चित्त प्रसन्न हो जाता, चित्त के प्रसन्न होने से समस्त
दुःख नाश हो जाते हैं, जो कि आपसे जाति और विद्या में बड़े
उनसे द्वेष न करना १, बराबरवालों से मित्रता रखनी २, छोटों प
दया और करुणा करनी ३, पापी, चौर और जारों की उपेक्षा करनी
४, आत्मा के विषय पूजा को अभिमान न रखना कि हम पूजा
के योग्य हैं, जो दैवी सम्पत् का पुरुष है, उसमें ये गुण स्वभा
करके रहते हैं, जिसमें ये गुण होंगे वह निश्चय मुक्त होवेगा और
आसुरी संपत् अवगुण, दंभ, दर्प, काम, क्रोध, लोभादि बहुत
गीता-शास्त्र में लिखे हैं । कुछ थोड़े से इस ग्रंथ में भी
अध्याय में लिखे हैं । वे बंध के लिये हैं, जिसको मुक्त होना है
वहां से निश्चय करके उनसे वर्जित रहे। दैवी सम्पत् के अनुष्ठान
करने से आसुरी सम्पत् का तिरस्कार हो जाता है, आसुरी सम्पत्
के वर्जने से दैवी सम्पत् के गुणों का अनुष्ठान हो जाता है ।
लक्षण स्वभाव से ज्ञानी के रहते हैं, और साधक को प्रयत्न करने
से सिद्ध होते हैं, उनको इस प्रश्न के उत्तर में लिखते हैं ।

प्रश्न—कैसे पुरुष को लोग ज्ञानी कहते हैं १, और कैसे वह
ज्ञानी बोलता है २, बैठता है ३, चलता है ४ ।

उत्तर—जिस काल में जो पुरुष, जितनी मन में वासना

है, सबको त्याग करके निजानंद करके तुष्ट रहता है, दुःखों में दुःख सुख में सुख नहीं मानता, दूर हो गये हैं भय, राग, क्रोध जिसके, उसको ज्ञानी कहते हैं १, शुभ अशुभ को प्राप्त होकर किसी जगह प्रीति नहीं करता, प्रिय को प्राप्त होकर हर्ष नहीं करता, अप्रिय को प्राप्त होकर शोक नहीं करता, साक्षी हुआ बोलता है २, मुक्ति में यत्न करनेवाले विचारवान् के मन को भी जो इन्द्रिय हर लेते हैं, सब इन्द्रियों को रोककर परमेश्वर-परायण हुआ बैठा रहता है ३, सारी कामनाओं का त्याग करके निर्माण हुआ, और जो कामना फिर प्राप्त हों, उनमें ममता इच्छा नहीं करता हुआ निरहंकार हुआ विचरता रहता है ४, फिर भी ज्ञानी का लक्षण और प्रकार करके सुनो, यह ज्ञानी का लक्षण स्वसंवेद और परवेद भी है उदासीनवत् स्थित हुआ। गुणों करके नहीं विचलता है और विचारता रहता है कि गुण वर्त रहे हैं, समान हैं पाषाण, सोना, निन्दा, स्तुति, मित्र, शत्रु, मान, अपमान जिसके, सारे आरम्भों के त्याग करने का स्वभाव है जिसका, उसको ज्ञानी गुणातीत स्थितप्रज्ञ कहते हैं और जो ज्ञानी का केवल स्वसंवेद लक्षण है।

सत्त्वगुण का जो कार्य प्रकाशादि, रजोगुण का जो कार्य प्रवृत्ति आदि, तमोगुण का जो कार्य मोहादि, जो अपने आप प्रारब्ध के बल से प्राप्त हों, तब कुछ हर्ष शोक नहीं करता,

१—उदासीनवत् लिखने में यह शंका है कि उदासीन ही क्यों न कहा ? समाधान यह है—दो मनुष्य झगड़ा करनेवालों में कोई तीसरा भी उदासीन चला आवे, वह देखता रहे, या चला जावे तो झगड़ा करनेवालों की कुछ हानि नहीं होती, परंतु आत्मा उदासीनवत् तीन गुणों के झगड़े का द्रष्टा है, जो चला जावे, अर्थात् उनका अभिमान छोड़ दे, तो झगड़े करनेवाले भी नहीं रहते इसलिये उदासीनवत् कहा।

जों निवृत्त हो जावे, तब कुछ हर्ष शोक नहीं करता, मुक्ति की इच्छावाले के तो सत्वगुण में राग, हर्ष और रज तथा तमोगुण में द्वेष और शोक होता है। ऐसे-ऐसे साधन गीता-शास्त्रादि में बहुत लिखे हैं। तात्पर्य यह है—जैसे बने शरीर, इन्द्रिय, प्राण और अन्तःकरण को नित्य प्रतिदिन अधिक अभ्यास करके निरोध करे। वशिष्ठजी कहते हैं, जैसे बने हाथ से हाथ, दाँत से दाँत, मलकर हाहाकारादि शब्द करके मन को वश करे। विषयाकार अंतःकरण की वृत्ति सूक्ष्म करने से जो अपना स्वरूप हुआ, हुआ नहीं प्रतीत होता, वह स्वरूप ज्ञान द्वारा अपरोक्ष होजाता है। हुई वस्तु न प्रतीत होती हो, इसमें दृष्टांत कहते हैं। जैसे १० लड़कों में पढ़ता हुआ किसी का लड़का, उस लड़के का शब्द बाहर से पृथक् भले प्रकार नहीं प्रतीत होता अर्थात् उसको उसका पिता दूसरे से यह नहीं कह सकता कि यह मेरा लड़का पढ़ता है, ऐसे ही जिसके इन्द्रियादि अपने-अपने विषयों में प्रवृत्त हो रहे हों, उसको ज्ञान होना कठिन है, जैसे जो वे ९ लड़के पढ़ने से चुप हो जावें, अथवा शनैः शनैः पढ़ें और वह लड़का अपने स्वभाव के अनुसार पढ़ता रहे, तब लड़के का शब्द निश्चय हो सकता है, ऐसे ही जो विषयाकार अंतःकरण की वृत्ति सूक्ष्म होजावे, तब अपना स्वरूप भले प्रकार प्रतीत हो सकता है इसलिये अवश्य अंतःकरण की वृत्ति सूक्ष्म कर देनी योग्य है। इन्द्रियों के रोकने से अंतःकरण की वृत्ति सूक्ष्म होती है इसमें भी दृष्टान्त कहते हैं।

जैसे किसी तालाब में दश गूल लग रही हो, उसको जो सुखाना हो तो प्रथम गूल बंद करे, फिर सूर्य के तपने से तालाब सूख जाता है, ऐसे प्रथम इन्द्रियों को निरोध करे, फिर विचार

रूप सूर्य तपावे, इस प्रकार अंतःकरण की वृत्ति सूक्ष्म हो सकती है, भला इस बात की परीक्षा के लिये प्रथम महीना भर तो ऐसा अभ्यास कर देखो, कितना भेद पड़ता है जिसके अभ्यास करने से नित्य प्रतिदिन उसका फल करामलकवत् प्रतीत होता हो, फिर उसको न करो, तो कहो, उसके सिवाय और कौन पशु है।

अंतःकरण की वृत्तियों का सूक्ष्म हो जाना इसी को मनोनाश कहते हैं। ऐसे-ऐसे साधनों करके युक्त जो पुरुष, सो ज्ञान द्वारा अनायास निरतिशय आनंद को प्राप्त होता है।

चौथा अध्याय समाप्त हुआ ॥ ४ ॥

पाँचवाँ अध्याय।

सत्त्वगुण के बढ़ाने से और रजोगुण-तमोगुण के कम करने से ज्ञान द्वारा अपने स्वरूप की प्राप्ति होती है, इसलिये सत्त्वगुण के बढ़ाने एवं रजोगुण और तमोगुण के कम करने के लिये तीनों गुणों के लक्षण लिखते हैं। जिस प्रकार ये तीनों गुण, देह के विषय आत्मा को बंधन करते हैं, सो सुनो।

सत्त्वगुण निर्मल होने से प्रकाशक और शांतरूप है, कोई उपद्रव उसमें नहीं, शांतरूप होने से जो अपना कार्य सुख, उसके साथ बंधन करता है, और प्रकाशक होने से प्रकाशक का कार्य जो ज्ञान, उसके साथ आत्मा को बंधन करता है। मैं सुखी, मैं ज्ञानी, ये मन के धर्म हैं, आत्मा में जोड़ देता है।

रजोगुण का कार्य और बंधन प्रकार लिखते हैं—

रजोगुण रागात्मक अर्थात् राग है आत्मा स्वरूप जिसका,

और तृष्णा[1] और संग[2] की उत्पत्ति है जिससे, सो रजोगुण आत्म
को कर्मों में संग आसक्ति करके बंधन करता रहे। तमोगुण तप
है, सब प्राणियों को मोह करनेवाला है, सो तमोगुण प्रमाद
निद्रा, आलस्य आदि करके बंधन करता है। सत्त्व आदि अपने
अपने आविर्भाव में जो करते हैं, उनकी शक्ति को दिखलाते हैं—
जिस समय रज और तमोगुण का तिरोभाव करके सत्त्वगु
आविर्भाव होता है, सो सत्त्व, दुःख-शोकादि के कारण होते हु
भी सुख के अभिमुख कर देता है। रजोगुण सुखादि के कार
होते हुए भी कामों में लगा देता है। तमोगुण शास्त्रजन्य ज्ञा
को ढक करके सुखादि के कारण होते हुए भी प्रमादादि में जो
देता है। महत्-पुरुष पूर्व संस्कार से मिले भी, उन्होंने उपदे
भी किया, उपदेश-समय चित्त-प्रमाद में लगा रहा, जिस हेतु
वही तमोगुण है। महात्मा ने जो कहा, उस अर्थ को न धार
किया, जिस हेतु से वही प्रमाद है। यह नियम है कि जब स
का आविर्भाव होता है, तब रज और तम तिरोभाव हो जाते हैं
जब रजोगुण का आविर्भाव होता है, तब सत्त्व और तम तिरो
होजाते हैं। जब तमोगुण का आविर्भाव होता है, तब सत्त्व औ
रज तिरोभाव होजाते हैं। जिस काल में सत्त्वादि, देह में
रहते हैं, उनका स्वरूप लिखते हैं—

इस शरीर के सारे द्वारों में जिस समय प्रकाश होता है, औ
अंतःकरण में सुख का आविर्भाव होता है; इस चिह्न से जाने
कि अब सत्त्वगुण बढ़ा हुआ है, ऐसे ही लोभ प्रवृत्ति कर्मों
आरम्भ अंश में स्पृहा ऐसे-ऐसे चिह्न करके जाने कि अब रजोगु

१—जो वस्तु प्राप्त नहीं उसमें अभिलाषा रहनी तृष्णा। २—प्राप्त
में विशेष आसक्ति होनी संग।

बढ़ रहा है, और प्रकाश अप्रवृत्ति प्रमाद मोहादि के आविर्भाव में यह जाने कि अब तमोगुण बढ़ रहा है। अंतकाल में जो सत्त्वगुणादि का आविर्भाव हो, तो क्या क्या फल होता है, सोई लिखते हैं। जो अंतकाल में सत्त्वगुण बढ़ा होवे, तो यह देहधारी जीव इस देह को त्याग करके, जो कि पुण्यलोक है जहाँ मल नहीं है, सुख भोगने के स्थान हैं, उनको प्राप्त होता है। और रजोगुण में मर करके कर्मसंगी मनुष्यों में उत्पन्न होता है। तमोगुण में मर करके पशु आदि मूढ़-योनि में उत्पन्न होता है। जिस हेतु से इस शरीर में अपने आप सत्त्वादि गुण आविर्भूत होते हैं उसका कारण कहते हैं। निर्मल फल जो ज्ञान सुख सो पिछले सत्त्वगुणी कर्म का फल है। रजोगुणी कर्म का फल दुःखादि हैं। तमोगुणी कर्म का फल अज्ञानादि हैं। सत्त्वगुण से ज्ञानादि होते हैं। रजोगुण से लोभादि होते हैं। प्रमाद, मोहादि तमोगुण से होते हैं। सत्त्वगुणी आदि पुरुषों को देह के पीछे क्या फल होता है। प्रथम तो यह कहा था कि अंतकाल में जो गुण बढ़ा होवे, उसका ऐसा फल होता है, यहाँ तारतम्यता का विचार है। जो सत्त्वगुणी हैं वे अपने गुण की तारतम्यता से ऊपर के लोकों को प्राप्त होंगे। जैसे इस लोक में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्रादि की और राजा मन्त्री आदि की तारतम्यता है, ऐसे ही ऊपर भी देवता, गंधर्वादि, ब्रह्मलोकादि लोकों की तारतम्यता है। जितनी यहाँ मनुष्यलोक में जिसके सत्त्वगुण की वृत्ति अधिक है वह उसी लेखे से ऊपर के लोकों को प्राप्त होगा। इसी प्रकार जो गुणी मनुष्यलोक में ब्राह्मण और चक्रवर्ती राजा से लगाकर चांडाल, कंगाल पर्यन्त उत्पन्न होवेगा, और तमोगुणी पशु आदि योनियों में अर्थात् कीट आदि सर्पादि से लेकर गो-हंसादि पर्यन्त

योनियों में उत्पन्न होवेगा । और जो ज्ञानी है, वह गुणातीत
मुक्त होवेगा । वह यों जानता है कि मैं इन गुणों से पृथक् हूँ, गुण
कर्त्ता है, मैं अकर्त्ता हूँ, गुणों का द्रष्टा साक्षी हूँ । परमेश्वर का
हैं—गुणातीत मेरे भावको प्राप्त होवेगा तात्पर्य यह कि मुक्त होवेगा

देवता की पूजा करने और यज्ञ आदि दान तपादि करने
अन्न के खाने से, ऐसी-ऐसी बहुत बातें हैं, सत्त्वादि की परी
होती है, तात्पर्य यह कि जो सत्त्वगुणी देवता की पूजा करे,
जानना कि यह सत्त्वगुणी है ऐसे ही रज और तमोगुणी
कल्पना कर लेनी और ऐसे ही यज्ञ दानादि में समझ लेना । स
गुणी पूजा दानादि करने से सत्त्वगुण बढ़ता है, इसलिये र
गुणी तमोगुणी संबंधी पूजा त्याग देने के लिये सत्त्वगुणी सं
पूजादि सेवन करने के लिये पूजादि को सत्त्व, रज और तमो
भेद करके लिखते हैं ।

ब्रह्मा, विष्णु, महेश, सूर्य, शक्ति, गणेशादि के यजन क
वाले सत्त्वगुणी हैं, यक्षादि के यजन करनेवाले रजोगुणी हैं,
प्रेतादि के यजन करनेवाले तमोगुणी हैं । रजोगुणी और तमो
ऐसा-ऐसा तप करते हैं कि शास्त्र में तो उसका विधान नहीं,
प्राणियों को भय का देनेवाला, घोर शरीर को खेद करनेवा
मूर्ख वृथा पाखंड करके ऐसा तप करते हैं, हेतु उसका यह है
काम, राग, दंभ अहंकारादि करके युक्त हैं । जैसे कि नास्तिक
के व्रतादि हैं । इस समय में बहुत प्रसिद्ध हैं, उनके ल
श्रीतुलसीदासजी ने रामायण में लिखे हैं । तात्पर्य यह कि जो
ने नहीं विधान किया, सो पाखंड है । शास्त्र की विधि से
तप आदि सत्त्वगुणी हैं ।

भोजन का भेद कहते हैं—

रसवाला अन्न, घृत, शर्करा करके युक्त और भोजन के पीछे शरीर में अपने रस करके चिरकाल स्थिर रहे और स्निग्ध, कोमलतर और जिसके देखने से चित्त प्रसन्न होजावे, देखते ही मन अंगीकार कर लेवे, ऐसा अन्न अवस्था, उत्साह, शक्ति और आरोग्य का बढ़ानेवाला सत्त्वगुणी को प्रिय है। यज्ञ में ऐसा अन्न देना योग्य है १। अति कटु, अम्ल, लवण, उष्ण, तीक्ष्ण, रूक्ष और दाह करनेवाला, ऐसा अन्न दुःख, शोक और रोग का बढ़ानेवाला है और भोजन के पीछे भी दुर्मन करनेवाला रजोगुणी को प्रिय है, अति शब्द सबके साथ जोड़ देना २। जिसको बने हुए पहर बीत जावें, और गत रस ठंढा हो जावे, और जिसमें दुर्गंध आवे, बासी, जूँठा, शास्त्र करके निंदित ऐसा अन्न तमोगुणी है ३।

यज्ञ का भेद कहते हैं—

फल की इच्छा नहीं है जिनके यही विचार करके कि यज्ञ करना वेद-विहित है, हमको करना योग्य है, इस प्रकार मन को समाधान करके जो यज्ञ करते हैं, सो यज्ञ सत्त्वगुणी है १। फल का उद्देश करके, दंभ करके, जो यज्ञ करते हैं, सो रजोगुणी है २। शास्त्र विधि करके हीन रजोगुणी तमोगुणी अन्न है। जिस यज्ञ में मंत्र और दक्षिणा करके हीन श्रद्धा करके रहित जो यज्ञ, सो तमोगुणी है ३। तप को आगे सत्त्वादि भेद करके लिखेंगे।

प्रथम तप को मन, वाणी और शरीर भेद करके लिखते हैं—

देवता, ब्राह्मण, गुरु और कोई महात्मा उनका पूजन करना, कोमल रहना, हिंसा न करना, पवित्र, ब्रह्मचर्य रहना, इसको शारीरिक तप कहते हैं १।

मैथुन के आठ अंग हैं, सबसे वर्जित रहना इसका नाम ब्रह्म-

चर्य है, रागबुद्धि करके स्त्री का स्मरण करना १ । कीर्त्तन कर २ । हँसी चौहल करना ३ । भले प्रकार दृष्टि जमाकर देख ४ । गुप्त एकांत में बात करनी ५ । मन में संकल्प करना कि कैसे प्राप्त हो ६ । यह निश्चय करना कि हम इससे संग क ७ । साक्षात् भ्रष्ट हो जाना ८ । रागपद सबके साथ जोड़ दे ऐसा वचन बोलना दूसरे को उद्वेग न करे, सत्य हो, उस प्यारा लगे, परिणाम में सुख का करनेवाला, थोड़े अक्षरों में कह वेद-शास्त्र के पढ़ने-पढ़ाने का अभ्यास रखना, इसको वाणी तप कहते हैं २ । मन की प्रसन्नता, अक्रूरता, मनन करना, मन विषयों से निरोध करना, व्यवहार में माया न करनी, इ मानस-तप कहते हैं ३ । इन तीन प्रकार के तप को सात्त्वि भेद करके तीन प्रकार का कहते हैं ।

एकाग्र चित्त करके फल की इच्छा न करके, परम श्रद्धा ऐसा जो तीन प्रकार का तप किया है इसको सात्त्विक क १ । जिन्होंने सत्कार के लिये कि ये साधु हैं मान और लिये दंभ करके जो तप किया है, सो अनित्य होने से रजो है २ । बिना विवेक के दुराग्रह करके, आत्मा को पीड़ा अथवा दूसरे के नाश के लिये जो तप करते हैं, सो तमोगुणी

दान का भेद कहते हैं—

हमको देना योग्य है, इस बुद्धि करके सुन्दर देश-का अनुपकारी सुपात्रों को जो दान देना, सो सत्त्वगुणी १ प्रत्युपकारी को वा फल को उद्देश करके वा चित्त में क्लेश कर दान देना सो रजोगुणी २ । अपात्रों को वा अदेशकाल में और जो सुपात्रों को भी देना, तो असत्कार और अवज्ञा देना, यह दान तमोगुणी है ३ ।

कर्म का भेद कहते हैं--

फल की इच्छा न करके यह विचारकर कर्म करना—वेद-शास्त्र की आज्ञा है, नित्य करना चाहिये, राग और द्वेष के विना अभिनिवेश न रखकर जो कर्म किया है सो सत्त्वगुणी १। फल की इच्छा करके, अहंकार करके, बहुत आयास करके, जो कर्म किया सो रजोगुणी २ । पश्चात् भावी धनादि का व्यय, हिंसा, अपना बल, इनको न विचार करके केवल मोह से जो कर्म का आरम्भ करना सो कर्म तमोगुणी ३ ।

कर्त्ता का भेद कहते हैं--

त्याग दिया है अभिनिवेश कर्म में जिसने, और गर्व की जो बात बोलनी, उससे रहित, धैर्य और उत्साहवाला, कर्म की सिद्धि और असिद्धि में निर्विकार, ऐसा कर्मकर्त्ता सत्त्वगुणी १। रागी, फल की इच्छावाला, लोभी, हिंसात्मक, अपवित्र, हर्ष और शोक करके युक्त, ऐसा कर्मकर्त्ता रजोगुणी २। प्राकृत, अनम्र, अपगुण की शक्ति को छिपानेवाला, आलस्यस्वभाववाला, शोकशील, दीर्घसूत्री अर्थात् घड़ी भर के काम को महीनों लगावे, ऐसा कर्मकर्त्ता तमोगुणी ३।

सुख का भेद कहते हैं—

तम और रजोगुणी वृत्तियों का निरोध करके जो सत्त्वगुण बढ़ता है, कार्य उसका शांति, संतोष, निर्वैरता, बेचाह, कोमलतादि है, उस काल में जो अंतःकरण में सुख होता है, सो सत्त्वगुणी है । प्रथम अंतःकरण निरोध के समय तो यह विष के सदृश प्रतीत होता है, परंतु थोड़े दिनों तक, पीछे तो सदा अमृत के सदृश है १ । इंद्रियों का विषयों के साथ संबंध होने से अर्थात् खाने, देखने, मैथुनादि से जो सुख होता है, सो रजोगुणी—उस क्षण में तो अमृत के सदृश प्रतीत होता है, पीछे तो विष के

सदृश है २ । निद्रा, आलस्य और मनोराज्यादि से जो सुख हो- है, सो तमोगुणी, वह इस लोक का, न परलोक का, केव आत्मा को मोहनेवाला है । तात्पर्य यह कि इस लोक स्वर्गादि व देवताओं में ऐसा कोई नहीं, एक शुद्ध प्रत्यगात्मा के बिना जो इन गुणों से रहित हो, त्याग, ज्ञान, बुद्धि, धैर्य, श्रद्धादि सत्त्वादि भेद से गीता-शास्त्र में भले प्रकार लिखे हैं, और जिन भेद ऊपर लिखा है, उनका भी अर्थ गीतादि के श्रवण से निश्च हो सकता है । जितनी वेद-शास्त्रों की आज्ञा है कि यह काम यह न करना, सबका तात्पर्य यह है कि जिसके करने से रज तमोगुण बढ़ते हैं, वह काम न करना, और जिसके करने सत्त्वगुण बढ़ता है, वह काम करना । बुद्धिमान् को विचार चाहिये कि प्रातःकालादि स्नान-ध्यानादि करने से रज और त गुण का नाश होता है, वा नहीं । जो जाने कि होता है, तो जैसे बने वैसे ही शास्त्र-विहित कर्मों का करना योग्य है । काल में रज और तमोगुण की वृत्तियों का तिरस्कार, और स गुण की वृत्तियों का आविर्भाव, भले प्रकार होजावेगा, उस में यह मेरे को करना योग्य है, यह अयोग्य है, यह रस्ता दुःखादि का है, यह रास्ता सुख मुक्ति का है, सब जान [illegible] और वशिष्ठ व्यासादि को जो यह समर्थ है—सब भूत और ष्यत्काल की व्यवस्था कह देनी, यों सत्त्वगुण का प्रताप जिसके जितना अधिक सत्त्वगुण होगा, उसके उतना ही प्रकाश होगा । तात्पर्य यह कि सत्त्वगुण के बढ़ाने से सिद्धि लक्ष्मी आदि भी प्राप्त होनी, बहुत सहज है, और सत्त्वगुण बढ़ने से ज्ञान द्वारा मुक्त होजाता है, यही मुख्य फल है ॥

पाँचवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ ५ ॥

छठा अध्याय।

प्रथम साधन अवस्था में कर्म उपासना करनी उचित है। ज्ञान में समुच्चय न करना अर्थात् कर्म, उपासना और ज्ञान तीनों मिलकर मुक्ति होती है, ऐसा न विचारना। श्रीशंकराचार्य महाराज ने गीता-भाष्यादि ग्रंथों में सब समुच्चय का खंडन भले प्रकार प्रमाणपूर्वक किया है। तात्पर्य यह कि इस बात को सिद्ध किया है कि केवल ज्ञान से मुक्ति होती है। ज्ञान को कर्म और उपासना की इच्छा नहीं कर्म और उपासना को ज्ञान की इच्छा है। तात्पर्य यह कि बिना ज्ञान, कर्म और उपासना से मुक्ति नहीं होती, यहाँ भी इसी बात को सिद्ध करते हैं कि केवल ज्ञान से मुक्ति होती है।

शंका—तप, योग, यज्ञ, स्नान, व्रतादि का फल मुक्ति सुना जाता है, उनकी क्या गति होगी।

उत्तर—तप योगादि परंपरा करके मुक्ति के साधन हैं, ज्ञान तो साक्षात् स्वतंत्र मुक्ति का साधन है, यही बात श्रीरामचन्द्रजी ने भी लक्ष्मणजी के प्रति राम-गीता में कही है, वे जो कर्म उपासनावाले, केवल कर्म उपासना से मुक्ति कहते हैं, उनसे पूछना चाहिये कि वेद की हज़ारों श्रुतियाँ द्वैत पर हैं, उनकी क्या गति है। कर्म उपासनावाले जो पूछे कर्म उपासना पर जो हज़ारों श्रुतियाँ हैं, उनकी क्या गति है। इस प्रश्न के उत्तर में ब्रह्मवादी यों कहते हैं कि कर्म करने से अंतःकरण शुद्ध होता है, उपासना से चित्त की एकाग्रता होती है, यह उनका परम प्रयोजन है फिर ज्ञान द्वारा मुक्ति होती है।

तदुक्तम्—

धर्म से विरति योग से ज्ञाना । ज्ञान से मोक्ष-प्रद वेद बखा

यह शास्त्रार्थ दिग्विजय, शारीरक-भाष्यादि ग्रथों में बहुत जो बहुत चर्चा करे, वह उन ग्रंथों का श्रवण करे, यहाँ सि लिखते हैं ।

केवल ज्ञान मुक्ति का साधन है, उसमें यह दृष्टांत है। पाक-क्रिया में लकड़ी, जल वर्तनाआदि परंपरा करके गौण हैं, ऐसे ही कर्म और उपासना, मुक्ति के गौण साधन हैं। तो साक्षात् मुक्ति का साधन है । जो ऐसी शंका करे कि क्रिया में अग्नि गौण और जल वर्तना आदि मुख्य हैं। दृष्टांत आया कि कर्म मुख्य है, ज्ञान गौण है ।

उत्तर—उसका यों है कि अविद्या और कर्म का विरोध कर्म भी जड़, अविद्या भी जड़ है । अंधकार को अंधकार दूर कर सकता । विद्या ज्ञान-रूप है, यही ज्ञान अज्ञान को सकता है । जैसे प्रकाश अंधकार को । इस हेतु से ज्ञान गौ हो सकता । तदुक्तम्—

हुये ज्ञान बरु मिटै न मोहू । तुम रामहिं प्रतिकूल न होह

शंका—कर्म गौण रहे, ज्ञान मुख्य रहे, उपासना कहाँ

उत्तर—जो ऐसी उपासना है कि मैं ब्रह्म हूँ अर्थात् उपासना का तो ज्ञान में अंतर्भाव है, और 'दासोऽहम्' अर्थात् उपासना का कर्म में अंतर्भाव है, इस प्रक्रिया में ज्ञान कर्म दो ही

शंका— आत्मा तो सब शरीरों में परिच्छिन्न प्रतीत होता आत्मा को पूर्णता कैसे है ?

उत्तर—परिच्छिन्नवत् आत्मा अज्ञान से प्रतीत होता अविद्या के नाश होने से आत्मा पूर्ण जैसा है, वैसा ही

होने लगता है। जैसे सूर्य के आगे बादल होने से वा मंदिर आदि की उपाधि से धूप परिच्छिन्न प्रतीत होती है, बादल मकान की उपाधि दूर होने से पूर्ण प्रकाश होजाता है। जो आत्मा जीव अज्ञान का जो कार्य देहादि में अहंबुद्धि इस करके आपको कर्त्ता भोक्ता मानकर मैला होरहा है, ज्ञान के अभ्यास से निर्मल होजाता है।

शंका—जो ज्ञान बना रहा, तो अद्वैत की असिद्धि है ?

उत्तर—ज्ञान के अभ्यास से प्रकट होता है, जो वृत्ति ज्ञान से अज्ञान को नाश करके और आत्मा को निर्मल करके आप भी नाश होजाती है, जैसे कतकरेणू जल के मल को दूर करके आप भी नाश होजाती है।

शंका—आत्मा ज्ञानरूप है, वहाँ अज्ञान कैसे रहा ?

उत्तर—ज्ञानस्वरूप आत्मा अज्ञान का विरोधी नहीं, वृत्ति-ज्ञान अज्ञान का विरोधी है, जैसे बाँस में अग्नि रहती है, परंतु उसकी विरोधी नहीं, मथन करने से उत्पन्न होती है, जो अग्नि, सो विरोधी है।

शंका—यह संसार प्रत्यक्ष दीखता है, इसको झूँठा कैसे कहते हो ?

उत्तर—संसार स्वप्न के तुल्य है, जैसे स्वप्न अपने काल में सत्यवत् प्रतीत होता है, जाग्रत् में असत्यवत् प्रतीत होता है, सत्य असत्यवत् प्रतीत होता है, परमार्थ में दोनों प्रकार नहीं, और जैसे देखने में मैथुनादि से जाग्रत् में दुःख सुख होता है, ऐसा ही स्वप्न में दुःख सुख होता है, और जैसे स्वप्न के पदार्थ अनित्य हैं, वैसे ही जाग्रत् के पदार्थ अनित्य हैं। तात्पर्य यह कि भ्रान्तिकाल में तबतक जगत् सच्चा-सा प्रतीत होता है जबतक अपना स्वरूप सच्चिदानन्द ब्रह्म से अभिन्न, सबका

अधिष्ठान नहीं जाना, जैसे रजत की तबतक भ्रम से प्रतीति जबतक शुक्ति के विशेष गुण नील पृष्ठ त्रिकोणादि नहीं लि किये । सत्चित्रूप आत्मा में सब प्रपंच कल्पित हैं, जैसे में झुमके, बाली आदि काल्पित हैं, और जैसे घट मकान आदि उपाधि से महाकाश पृथक् पृथक् घटाकाश, मठाकाश, वनावि वृक्षावच्छिन्न आकाश कहा जाता है, ऐसे ही आत्मदेह उपाधि से परिच्छिन्न कहा जाता है, और जैसे जब घट मकान का नाश होजावे, तो केवल महाकाश रह जाता है, ऐसे देह अविद्या के नाश होने पर आत्मा भी पूर्ण रह जाता है । तम और रजोगुणी की नाना उपाधि से जाति, वर्ण, आश्र आत्मा में कल्पित रक्खे हैं, जैसे जल स्वभाव से मीठा और उपाधि से खट्टा, नमकीन, लाल, पीले की उसमें कल्पनाएँ की हैं । स्थूल, सूक्ष्म, कारण, तीनों उपाधियों से आत्मा पृथक् चाहिए, जैसे शुद्ध स्फटिक रक्त पीतरंग के योग से वैसाही होता है, जैसे धानों को मूसल से कूट पिछोड़कर चावल कर लेते हैं, ऐसे पंचकोशरूपी भूसी को दूर करके विचार पिछोड़ना, इस युक्ति करके आत्मा को पंचकोश तीन शरीर से शुद्ध जानना चाहिए ।

शंका—तुम आत्मा को सर्वगत कहते हो सारे तो नहीं दी

उत्तर—आत्मा सब काल में सर्वगत है, परंतु शुद्ध की वृत्ति में प्रतीत होता है, जैसे प्रतिबिंब सारे हैं, परंतु पदार्थ दर्पण जलादि में प्रतीत होता है । देह, इंद्रिय, मन, प्रकृति, इनसे आत्मा विलक्षण है, ये सब दृश्य हैं, उनका द्रष्टा साक्षी, सो आत्मा है ।

शंका—तुम आत्मा को निर्विकार कहते हो, आत्म

विकारवाला प्रतीत होता है, क्योंकि मैं चलता हूँ, मैं बोलता हूँ, ऐसे ऐसे व्यापार से व्यापारी दीखता है ।

उत्तर—पृथक्-पृथक् जो इंद्रिय, मन, प्राणादि ये पृथक्-पृथक् अपने-अपने विषयों में अपनी-अपनी क्रिया में जो प्रवृत्त होते हैं, उनके साथ आत्मा भी व्यापारीवत् विना विवेक मूर्खों को प्रतीत होता है, जैसे बादल के चलते हुए बालक कहता है कि चन्द्र चलता है, बालक को तो यही निश्चय है, परंतु विचारवान् को भी भ्रांति से चन्द्र का चलना प्रतीत होता है, और जैसे नाव में बैठे हुए गङ्गा के तीर के वृक्षादि चलते हुए प्रतीत होते हैं, ऐसे आत्मा भी व्यापारीवत् प्रतीत होता है । देह इंद्रिय प्राण मन आदि सब जड़ पदार्थ हैं, आत्मा चैतन्य को आश्रय करके अपने-अपने अर्थ में प्रवृत्त होते हैं । जैसे सूर्य के निकलने से मनुष्यादि अपने अपने काम में लगते हैं, देह, इंद्रिय, गुण, कर्मादि अमल सत्-चित्-आत्मा में विवेक के विना अभ्यास कर रक्खे हैं, जैसे आकाश में नीलता मनादि की उपाधि अर्थात् मैं कर्त्ता, भोक्ता हूँ, ये अज्ञान से आत्मा में कल्प रक्खे हैं, जैसे जल का चलना चन्द्र में कल्प रक्खा है । राग, इच्छा, सुख-दुःखादि बुद्धि के किये हुए प्रतीत होते हैं, सुषुप्ति में बुद्धि लय होजाती है, वहाँ नहीं प्रतीत होते इसलिये रागादि बुद्धि के धर्म हैं, आत्मा के नहीं । जैसे सूर्य का स्वभाव प्रकाश, अग्नि का उष्ण स्वभाव, जल का शीत स्वभाव है ऐसे नित्य निर्मल आत्मा का सच्चिदानन्द स्वभाव है । सत्-चित्-आनन्द, ये तीन पद हैं, शास्त्र में ये तीनों मिलकर एक सच्चिदानन्द ऐसा बोलने में आता है । सत् जो तीनों काल भूत, भविष्यत् और वर्त-मान में प्रतीत होते हैं, सुषुप्ति में बुद्धि लय हो जाती है । वहाँ एकरस बना नहीं रहता है । भाषा में सत् को कहते हैं और

घट पटादि में जो है यों शब्द प्रतीत होता है, सो आत्मा ही
अंश है, यह बात दूसरे अध्याय में जहाँ अस्ति भाति प्रिय
प्रसंग है, वहाँ भले प्रकार सिद्ध कर आये हैं, और चित्-चैतन्य
रूप ज्ञान-रूप प्रकाश-रूप परंतु ऐसा प्रकाश न समझना, जैसे
अग्नि सूर्यादि का है, क्योंकि ये तो स्वप्न और सुषुप्ति में एक
नहीं, ऐसे समझो जिसके प्रकाश से जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति
पदार्थों का भान होता है अर्थात् जिस प्रकाश करके रूपादि
मन आदि सुख अज्ञानादि जाने जाते हैं। जाग्रत् अवस्था में भी आत्मा
के प्रकाश के बिना कुछ नहीं प्रतीत होसकता, परंतु सूर्यादि
भी प्रकाश है और स्वप्न सुषुप्ति में तो केवल आत्मा ही का प्रकाश
है, इस हेतु से वहाँ भले प्रकार प्रतीत होता है कि आत्मा
यों प्रकाश है। आत्मा स्वयं प्रकाश स्वप्न में भले प्रकार प्रतीत
सकता है और आनंदरूप जो कि सबसे सिवाय प्यारी वस्तु
उपनिषद् में याज्ञवल्क्यमैत्रेयी का संवाद है कि हे मैत्रेयी!
आत्मा के लिये प्यारा, पुत्र आत्मा के लिये, स्त्री आत्मा के लिये
तात्पर्य यह कि सब पदार्थ आत्मा के लिये प्यारे हैं। जो सब
विपत्ति पड़े, तो प्रथम अपने शरीर की रक्षा करता है, और आ
नंद के लिये शरीर इन्द्रिय प्राण का भी नाश कर देता है,
हेतु से प्यारा आत्मा है, वही आत्मा आनंदरूप है। वह आनंद
रज तमोगुण की वृत्तियों में दब रहा है। इस आनंदस्वरूप
पंचदशी-ग्रंथ में ब्रह्मानंद के पाँच अध्याय हैं।

योगानंद, आत्मानंद, अद्वैतानंद, विद्यानंद और विषयानंद
ये हैं नाम जिनके उनमें भले प्रकार निश्चय होसकता है।

शंका—आत्मा तो निर्विकार है, बुद्धि जड़ है, मैं जानता
हूँ यह किसका धर्म है?

उत्तर--आत्मा का सत्, चित् अंश और बुद्धि की वृत्ति ये दोनों जुड़कर विवेक के विना यों व्यवहार होता है कि मैं जानता हूँ आत्मा को जीव जानकर भय को प्राप्त होता है और जब यह जाने कि मैं जीव नहीं, परमात्मा हूँ तब निर्भय होजाता है। जैसे जबतक रज्जु में सर्प जानता रहेगा, तबतक निश्चय भय रहेगा। वेद वारंवार कहते हैं जो जीव ब्रह्म में किंचित् भी भेद करेगा, उसको बड़ा भय होगा, विचारो जो जीव ब्रह्म में भेद है, तो पूर्णब्रह्म कैसे है, जो एक से भेद हुआ, तो अनेक जीव पशु, पक्षी, देवता, यक्ष, आकाशादि से सबसे भेद हुआ, तो जैसे और हैं ऐसेही ब्रह्म भी एकदेशी हुए और रामचंद्र, कृष्णचन्द्र, विष्णु, शिवादि मूर्त्ति तो परमेश्वर की मायामय हैं, वास्तव नहीं, इस बात को परमेश्वर ने अपने मुख से कहा है--

हे लक्ष्मी ! यह मेरा शरीर मायामय है, सात्त्विक नहीं। पद्म-पुराण में गीताजी के माहात्म्य में लक्ष्मीनारायण का संवाद है और गीता-शास्त्र में परमेश्वर कहते हैं कि मुझ अव्यक्त को जो व्यक्तिवाला जानते हैं, वे मूर्ख हैं। जब कि परमेश्वर आप ऐसा कहते हैं कि विवाद की बात है, परंतु मूर्ख अपनी मूर्खता से सच्चिदानंद, एकरस, पूर्णब्रह्म को परिच्छिन्न, एकदेशी कहेंगे अर्थात् वैकुंठ, कैलास, मथुरा, अयोध्यावासी कहेंगे और परमेश्वर के सद्भाव में ऐसी-ऐसी चर्चा करेंगे कि कृष्णचन्द्र ने गोवर्द्धन उठा लिया, इस हेतु से कृष्णचन्द्र परमेश्वर हैं, और जो श्रुति-स्मृति-युक्ति हजारों परमेश्वर के सद्भाव में प्रमाण हैं कि जिन युक्तियों से नास्तिकों के मत खंडन किये जाते हैं जो नास्तिक न वेद को, न परमेश्वर को, न परमेश्वर के वाक्यों को मानता है उसका मत केवल युक्ति करके खंडन होता है। मूर्ख उन युक्तियों को जानते

नहीं, ऐसी तुच्छ युक्ति देते हैं, जिसको बालक भी खंडन कर दे गोवर्द्धन के सिवाय कैलास रावण ने उठा लिया है, और हजा राजा पुराणों में प्रसिद्ध हैं, जिनके रथ के पहिए के समुद्र हुए हैं, क्या वे परमेश्वर थे, और परमेश्वर ने रावण को मारा कंस को मारा और अनेक जय करी, यह परमेश्वर की क्या स्तु हैं, अर्थात् निन्दा है, क्योंकि जो परमेश्वर करने को, न करने और का और कर देने को समर्थ हैं, क्या वे ऐसी-ऐसी उपाधि नाना प्रकार का अपने ऊपर दुःख उठाकर औरों की सहायता जय करते । तदुक्तम्––

दोहा–

प्रीति विरोध समान सन, करिय नीति अस आहि।
जो मृगपति वध मेडुकिहि, भलो कहै को ताहि॥

चौपाई–भुवन अनेक रोम प्रति जासू, यह प्रभुता कछु बहुत न ता
सो महिमा समुझत प्रभु केरी, जो वरणत हीनता घने

प्रसिद्ध है कि चक्रवर्ती राजा को एक देश का राजा कह पट्शास्त्री को दो-चार पोथी का पढा हुआ कहना, चार पुत्र को एक पुत्रवाला कहना कितना अनर्थ है । और जो यह कि व्यासदेव, वाल्मीकिजी आदि ने क्यों परमेश्वर की ऐसी स्तुति लिखी हैं, सो सुनो ।

जो परमेश्वर को सच्चिदानंद, पूर्णब्रह्म, नित्यमुक्त, एक असंग, ऐसा विचारने को समर्थ नहीं, वह यही जानता है कि मैं उत्पन्न हुआ हूँ, मेरे माता-पिता स्त्रियादि हैं, ऐसे ही परमे माता-पिता स्त्रीवाले होंगे, और जैसे इस लोक में शरीर, म उपवनादि सुंदर-सुंदर जिसके होते हैं, और जो शत्रुओं को मारकर आप जय को प्राप्त होता है, उसको मूर्खलोग बड़ा

हैं, इसलिये उन मूर्खों के लिये व्यासादिजी ने परमेश्वर की ऐसी-ऐसी स्तुति लिख दी, और विचारवानों के लिये वेदांत में जो स्वरूप परमात्मा का निश्चय किया है, उसकी स्तुति लिखी है। विचार कर देखो कि यह कुछ विरोध की बात नहीं।

जब मूर्ख भेदवादी वेदांत की ऐसी-ऐसी युक्तियों में दब जाते हैं, उत्तर नहीं दे सकते, तब यों बकने लगते हैं, अजी ज्ञान बड़ा कठिन है, कलियुग में ज्ञान नहीं होता, और जो ब्रह्मवादी ज्ञानी विशेष करके संन्यासी हैं, उनको कहते हैं कि कलियुग में संन्यास वर्जित है, उनसे पूछना चाहिए कि श्रीमत्परमहंस, परिव्राजकाचार्य, श्रीशंकराचार्य महाराज शिवजी का अवतार, पद्मपाद परमेश्वराचार्य, हस्तामलक, आनंदगिरिजी से आदि लेकर बहुत ग्रंथों में प्रसिद्ध हैं, और बहुत से इस समय में प्रत्यक्ष हैं, और श्रीशंकराचार्य महाराज को भी कोई दो हज़ार वर्ष बीते हैं, जब कलियुग था, वा नहीं। और जो कलियुग में शुचि ज्ञान नहीं होता, तो व्यासजी ने पुराणों में, इतिहासों में, भले प्रकार सूत्रों में और श्रीकृष्णचंद्र महाराज ने गीता-शास्त्र में ज्ञान क्यों कहा, और प्रथम अध्याय में गीता भाष्यादि ग्रंथों का नाम हम लिख आये हैं, वे ग्रंथ उन्होंने क्यों बनाये।

जो कोई यह शंका करे कि हरि का नाम ही मेरा जीवन है इसके अतिरिक्त कलियुग में कुछ नहीं है। और जो केवल गति व बोध के लिये प्रयत्न करते हैं, वे केवल तुप कूटते हैं, ऐसे-ऐसे वाक्यों की क्या गति है?

उत्तर—ऐसे-ऐसे वाक्य "कलियुग में ज्ञान नहीं होता।" ये वाक्य किसी जगह नाम-माहात्म्य की प्रशंसा वा भक्ति की प्रशंसा वा कर्मादि की प्रशंसा में व्यासादि ने कहे हैं। क्योंकि

व्यासादि कवियों का यह नियम है कि जिस देवता वा भक्ति आदि की प्रशंसा करते हैं, वहां योंही कहते हैं कि जो है यों ही है, तो वह उनका कहना मूर्खों के लिये है और जो यह न माने, तो ऊपर जो हमने प्रश्न किये हैं कि उन्होंने ज्ञान क्यों कहा ? उसका उत्तर दो । तात्पर्य यह कि प्रथम ही हम तीसरे अध्याय में लिख आये हैं कि मूर्ख वेद-शास्त्र के एक-एक देश को सुनकर वा अपने मत का हठ करके वृथा वाद करते हैं । बुद्धिमान् को वेद-शास्त्रों का सिद्धांत निश्चय करना ही सिद्धांत है । कोई महात्मा यह कहते हैं कि हम आधे श्लोक में वह बात कहेंगे जो कोटि ग्रंथों ने कही है, सो वही आधे श्लोक में कहते हैं । ब्रह्म सत्य, जगत् मिथ्या है । जो यह सच्चिदानंद लक्षणवाला जीव है, वही ब्रह्म है, अपर कोई ब्रह्म नहीं, यही ज्ञान मुक्ति का हेतु है ।

छठा अध्याय समाप्त हुआ ॥ ६ ॥

सातवाँ अध्याय

श्रीशंकराचार्य महाराज ने हस्तामलकाचार्य से प्रश्न किया कि तुम कौन हो ? इसका उत्तर श्रीहस्तामलकाचार्य कहते हैं मैं मनुष्य, देव ? यक्ष, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, ब्रह्मचारी, गृहस्थी, वानप्रस्थ, और संन्यासी इनमें कोई नहीं; किंतु निज बोध स्वरूप हूँ । फिर उन्होंने दृष्टांत दे देकर कृपा करके जो औरों को भी बोध हो जावे, इसी अर्थ को सिद्ध किया । हम भी उसी अर्थ को संक्षेप करके इस अध्याय में लिखेंगे और भी दृष्टांत-युक्ति लिखेंगे । जैसे मनुष्यादि का व्यवहार में प्रवृत्त होना, इसमें निमित्त सूर्यनारायण हैं, ऐसे देह, मन, प्राण, बुद्धि आदि की प्रवृत्ति-चेष्टा में जो निमित्त हैं,

और परमार्थरूप करके तो कोई उपाधि द्रष्टा, दृश्यादि जिसमें नहीं, केवल आकाशवत् पूर्ण एक रस है, सो नित्य प्राप्त स्वरूप आत्मा है। स्थूल सूक्ष्म कारण शरीरों पंचकोशों से पृथक् अवस्था का साक्षी सच्चिदानंदरूप जो है, सो आत्मा है।

शंका—जैसे और पदार्थ आकाश पृथिवी आदि इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि करके निश्चय किए जाते हैं, ऐसे आत्मा तो नहीं जाना जाता ?

उत्तर—इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि को आत्मा प्रकाशता है जैसे दीप घटादि को बुद्धि आदि जड़ पदार्थों करके आत्मा का कैसे निश्चय हो सकता है, आत्मा तो स्वयंप्रकाश है, आत्मा को अपने जानने में इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि की इच्छा नहीं। जैसे दीपक के जानने में और दीप की इच्छा नहीं। चिदाभास के अर्थ जानने के लिये प्रथम दृष्टांत लिखते हैं—महाकाश १, घटाकाश २, घट में जल ३, जलाकाश ४, ये चार दृष्टांत हैं। अब दृष्टांत में समझो, शुद्ध चैतन्य १, कूटस्थ २, अंतःकरण ३, जीव ४, इसी का नाम चिदाभास है, अर्थात् चैतन्यवत् प्रतीत हो, परंतु चैतन्य के लक्षण करके रहित हो। जीविका जो अधिष्ठान अर्थात् जीव जिसमें कल्पित है, और कूटवत् निर्विकार ठहरा रहे, उस कूटस्थ जीव का लक्षण यों है—अधिष्ठान जो चैतन्य और सूक्ष्म शरीर और चैतन्य की जो छाया सूक्ष्म शरीर में इन सबका संग जीव कहा जाता है। एवं महाकाश १, घटाकाश २, अभ्राकाश ३, जलाकाश ४, ये चार दृष्टांत हैं। अब दार्ष्टांत में समझो—शुद्धचैतन्य १, कूटस्थ २, ईश्वर ३, जीव ४, और वही चैतन्य ऐसे छः प्रकार का है—शुद्ध चैतन्य १, साक्षी २, प्रमातृ ३, प्रमाण ४, प्रमेय ५, फल ६। उपाधि-रहित शुद्ध चैतन्य १,

अविद्योपहित साक्षी २, अंतःकरण-विशिष्ट प्रमातृ ३, अंतःकरण वृत्त्यवच्छिन्न प्रमाण ४, घटावच्छिन्न चैतन्य प्रमेय ५, अंतःकरण वृत्त्यभिव्यक्त चैतन्य सो फल चैतन्य, इसमें दृष्टांत तालाब गूलकेदार का है। यह विषय भाषा में भले प्रकार नहीं लिखा जाता, जो विस्तार करके लिखें भी, तो इसका समझना कठिन है और जो समझ सकता है, वह भाषा क्यों पढ़े, सुंदर शास्त्र पढ़े और सुने। प्रत्यक्ष प्रमाण में और परमात्मा बुद्धि आदि का किस प्रकार से विषय है, और किस प्रकार विषय नहीं, इस बात के जानने में इस विषय का जानना आवश्यक होता है, इसलिये यह विषय वेदांतशास्त्रार्थ के जाननेवालों से श्रवण करना योग्य है। जो इस ग्रंथ को पढ़ावें-सुनावेंगे, वे अवश्य इस विषय को भी जानते होंगे। हमने तो प्रसंग चिदाभास के अर्थ जानने के लिये लिख दिया है। जैसे मुख का आभासक मुख का जाननेवाला जो दर्पण में दीखता है, वह मुख से कुछ पृथक् वस्तु नहीं, ऐसे बुद्धि में जो चिदाभास है, वह चैतन्य से पृथक् कुछ वस्तु नहीं, उसका जो अधिष्ठान कूटस्थ रूप सो नित्य प्राप्त आत्मा है। जैसे दर्पण के अभाव में आभास की हानि होने पर एक मुख प्रतीत होता है, और कुछ भी कल्पना आभास्य-आभासक, द्रष्टा-दृश्य, बिम्ब-प्रतिबिम्ब की नहीं होती, ऐसे ज्ञान के नाश होने पर उसका कार्य बुद्धि है, बुद्धि का नाश होने पर जो निराभासक त्रिपुटी-रहित वस्तु है, सो आत्मा है। ध्याता, ध्यान, ध्येय, प्रमाता, प्रमाण, प्रमेय, ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेय इसको त्रिपुटी कहते हैं। मन इंद्रिय आदि से पृथक् मन इंद्रिय आदि का आदि मन इंद्रिय आदि करके जो अगम्य सो आत्मा है। सब जीवों की बुद्धि में जो एक चैतन्य अपने आप शुद्धरूप ऐसे भान होता है कि जैसे अनेक जल

घटों में एक सूर्य प्रतिबिम्ब करके भान होता है, सो आत्मा है। जैसे एक सूर्य अनेक नेत्रों को क्रम करके नहीं प्रकाशता, ऐसे आत्मा ज्ञानस्वरूप अनेक को क्रम करके नहीं बोध करता।

शंका—जो एक चैतन्य सब शरीरों में है, तो यज्ञदत्तादि के दुःख-सुख देवदत्त क्यों नहीं अनुभव करता?

उत्तर—अविद्या की उपाधि से जिस शरीर में जिस जगह विशेष अध्यास है, वहीं के दुःखादि अनुभव हो सकते हैं और जगह के नहीं हो सकते। जैसे जिसको यही निश्चय है कि इस शरीर में चैतन्य और है, यज्ञदत्तादि के शरीरों में और चैतन्य है, तो उसको भी एक काल में शरीर फूटने का दुःख और पलँग पर सोने का सुख और भी अनेक दुःख-सुख अनुभव नहीं हो सकते। जिस काल में जहाँ अंतःकरण की वृत्ति होगी उसी जगह का दुःख सुख प्रतीत होगा, और जगह का नहीं होगा। जो दूसरे शरीर में अध्यास होगा, तो संदेह यज्ञदत्तादि के दुःख-सुख प्रतीत होंगे। जैसे मित्र, पुत्रादि में अध्यास होता है, तो उनके दुःख-सुख में जो कहता है कि मैं दुःखी अथवा सुखी हूँ और यह विचारना चाहिये कि जो प्रथम शरीर में चैतन्य था, वही इस शरीर में है, फिर पूर्वजन्म के दुःख-सुख क्यों नहीं प्रतीत होते। तात्पर्य यह कि जब एक शरीर में यों व्यवस्था है, जो अंतःकरण की वृत्ति नेत्र के साथ लगी हुई है, तो रूप ही का ज्ञान होता है, समीप बैठे कुछ कहा करो, किञ्चित् नहीं सुनता, इसी प्रकार सब जगह कल्पना कर लेनी। हजार वस्तुवें घर में खाने, पहरने और देखने की रक्खी हों, जिस जगह अंतःकरण की वृत्ति है वही दुःख-सुख का हेतु है। जब कि एक शरीर के दुःख-सुख एक समय

होनेवाले उनका एक काल में अनुभव नहीं हो सकता, फिर अनेक शरीरों का कैसे दुःख-सुख अनुभव हो सके।

शंका -- अष्टावधानी तो उत्तर-देना, चौसर खेलनी, आदि ऐसे-ऐसे आठ काम एक समय किया करता है, और दूसरे जो एक बालिस्त चौड़ा-लम्बा खजला है, उसको दाँतों से कुतर कुतर जो खाता है, तो शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध उसको एक काल में प्रतीत होता है, और तीसरे कोई कहता है कि मैं चन्द्र और तारों को एक काल में देखता हूँ, इसका उत्तर दो ?

उत्तर--मूर्ख यह बात कहता है कि मैं एक काल में सबका अनुभव करता हूँ, उसको मन की गति की खबर नहीं। मन ऐसा चंचल है कि एक क्षण नहीं लगने पाता--प्रथम पदार्थ को अनुभव करके दूसरे पदार्थ में प्रवृत्त हो जाता है, इस बात को सूक्ष्मदर्शी जानते हैं और सुनो, यह प्रसिद्ध है कि वाणी आदि इंद्रिय, बिना अंतःकरण विशिष्ट चैतन्य के युक्त हुए किसी क्रिया में प्रवृत्त नहीं हो सकते, देखिये पुरुष पाठ और जप करता है और अनेक मनोराज्य भी करता है। विचारना चाहिये, उसके मुख से श्लोक मंत्र जो उच्चारण होता है, तो चैतन्य विशिष्ट मन का वाणी के साथ संयोग है वा नहीं। जो कहो कि संयोग है, तो मनोराज्य कौन करता है ? और जो कहो संयोग नहीं तो वाणी जड़ है, उसमें क्रिया कैसे होती है। तात्पर्य यह कि संदेह प्रतीत होता है कि मन की गति बहुत चंचल है, मन मनोराज्य भी किए जाता है और वाणी के साथ मिलकर उस विषय का भी अनुभव किये जाता है, मूर्ख यों ही जानता है कि मेरा मन पाठ जप में नहीं लगा, जिनको अपने मन की भी खबर नहीं उनसे ऐसी-ऐसी शंका रहती हैं। इस उत्तर में तीनों प्रश्न का उत्तर है।

श्रीशंकराचार्य भगवान् कहते हैं कि यह जो जगत् दीखता है, यह क्या है ? क्या इसका रूप है ? यह कैसे हुआ है ? इसका क्या हेतु है ? यों बुद्धिमान् को कभी नहीं चिन्तवन करना चाहिए। फिर क्या चिन्तवन करना चाहिये कि यह माया भ्रांति इन्द्रजाल है, यों चिन्तवन करना चाहिये। जैसे किसी के पैर में काँटा लग जावे, तो वह यों न विचारे कि मेरे यह काँटा कौन से मुहूर्त्त में लगा है, कौन से पेड़ का है, यहाँ कैसे आया, ऐसा चिन्तवन न करे, जैसे बने, उसके निकालने का उपाय करे, ऐसे ही संसार की निवृत्ति का उपाय करे। जैसे एक सूर्य का प्रतिबिम्ब अनेक जल के घटों में है, जो घट को लेकर चले, तो सूर्य न तो उसके साथ जाता है, न कँपता है, ऐसे आत्म-ज्ञान-स्वरूप शरीर इन्द्रियादि की क्रिया में है वह क्रियावाला नहीं, जैसे ढक गई है, बादल से दृष्टि जिसकी, वह यों मानता है कि सूर्य छिप गये, ऐसे अविद्या की उपाधि से यह पुरुष आपको वृथा बँधा हुआ मानता है, और जैसे किसी बंदर ने घट में हाथ डालकर दोनों हाथ में अन्न भरकर मुट्ठी बंद कर ली, पीछे वृथा अज्ञान से चीं-चीं किलकिल करता है, विचारो उसको किसने बंधन किया है, और सुनो--

कोई तोते के पकड़ने के लिये मैदान में तो चुगा डाल देता है और दो बाँस खड़े करके बीच में उसके नलकी जैसी पंखे में होती लगा देता है, नीचे उस नलकी के किसी पात्र में जल भर देता है, तोता चुगने के लालच से आता है, प्रथम नलकी पर आ-नकर बैठता है, उस नलकी का नियम है कि उसके ऊपर जानवर बैठा, और वह फिरी, और जानवर उलटा हुआ। जो वह जानवर छोड़कर भाग जावे, तो कुशल है, नहीं तो यों हाल होता है कि

जब तोता उस नलकी पर आनकर बैठा और वह फिरी तो तोते ने जाना कि यह मेरा आश्रय है, जो इसको छोड़ दिया, तो जाने कहाँ गिरूंगा, उसको वह पकड़े रहा, फिर उस तोते की नीचे को पीठ,ऊपर को पैर होगये, उस तोते ने जो जल की तरफ़ देखा, तो अपना प्रतिबिम्ब जल में प्रतीत हुआ। उस तोते का अध्यासन प्रतिबिंब में लग गया, फिर वह तोता यह जानता है कि मैं जल में डूब रहा हूँ। जल में ऊपर का सब हाल भूल गया, वृथा अज्ञान से चीं-चीं टीं-टीं करता है, विचारो उसको किसने बंधन किया है ऐसे यह कूटस्थ चैतन्यरूप अपने प्रतिबिंब चिदाभास से अध्यास करके बंधनवत् हो रहा है, वास्तव में बंध नहीं। सब जगह जैसे आकाश अनस्यूत है, ऐसे आत्मा बाहर भीतर स्वच्छरूप अनुस्यूत है, किसी वस्तु का स्पर्श नहीं करता, और जैसे श्वेत मणि रंग की संनिधि होने से लाल और पीली प्रतीत होती है, ऐसेही आत्मा अविद्या की उपाधि द्वारा कर्त्ता और भोक्ता प्रतीत होता है। समस्त स्थूल सूक्ष्म उपाधि को नेति-नेति इस वाक्य से निषेध करके, जैसे दूसरे अध्याय में जीव-ब्रह्म की एकता महावाक्य द्वारा सिद्ध करी है, सदा वही चिंतवन करना चाहिये। प्रथम "त्वम्' पदों का अर्थ लिख भी आये हैं,फिर भी और प्रकार करके सुनो, कोई मुक्ति की इच्छावाला तीनें ताप जो संसार में हैं, उन करके तपा हुआ और संसार से उद्विग्न हुआ है मन जिसका शमदमादि साधनों करके युक्त, सद्गुरु से पूछता है,हे भगवन्! जिस

१—ज्वर क्रोधादि करके जो ताप; सो आध्यात्मिक १, शत्रु, चोर, व्याघ्रादि करके जो ताप, सो आधिभौतिक २, शीतोष्ण पवनादि करके जो ताप, सो आधिदैव ३॥

साधन करके अनायासपूर्वक संसाररूप बंधन से मैं छूट जाऊँ, सो महाराज मुझको संक्षेप करके, केवल कृपा करके कहो ?

उत्तर—हे साधो ! तुमने बहुत अच्छा बूझा, सावधानमति होकर सुनो, 'तत्त्वमसि' महावाक्यादि से उत्पन्न हुआ जो जीव-ब्रह्म का तादात्म्य विषय-ज्ञान सो मुक्ति का कारण है ।

प्रश्न—महाराज ! कौन जीव, कौन ब्रह्म है, किस प्रकार करके उनकी तादात्म्यता है, और महावाक्य किस प्रकार करके उसको प्रतिपादन करते हैं ?

उत्तर—जीव कौन है, तूही जीव है, और जो पूछता है कि मैं कौन हूँ, तूही वेसन्देह ब्रह्म है ।

प्रश्न—हे भगवन् ! अब तक तो मैंने भले प्रकार पदार्थ भी नहीं जाना, मैं ब्रह्म हूँ, यह जो महावाक्यार्थ इसको कैसे प्राप्त हूँ ?

उत्तर—सत्य कहते हो, वाक्यार्थ के ज्ञान में प्रथम पदार्थ का ज्ञान हेतु है, इसलिये प्रथम 'तत्त्वम्' पद का अर्थ सुनो । अन्तःकरण और उसकी वृत्तियों का साक्षी चैतन्य घन नित्य एकरस और देहादि में जो अहंबुद्धि इसको त्याग करके आत्मारूप करके जो चिंतवन करने में आता है, सो आत्मा 'त्वम्' पद का अर्थ । यह शरीर रूपादिवाला होने से आत्मा नहीं, जैसे पञ्च महाभूतों के विकार घटादि हैं, ऐसे ही प्रत्यक्ष विकारवाला होने से देह भी है ।

प्रश्न—जो देह अनात्मा है, तो हे भगवन् ! आत्मा को करामलकवत् साक्षात् प्रतिपादन करो ?

उत्तर—जैसे घट का देखनेवाला घट से पृथक् होता है । ऐसे देह का देखनेवाला देह कैसे होगा, और जैसे मकान में बैठा हुआ कोई यह कहे कि मैं मकान हूँ, तो विचारो कैसी मूर्खता की बात

है, ऐसे यह चैतन्य-रूप, असंग, निरवयव है और कहै कि मैं देह हूँ अर्थात् पुरुष, स्त्री, ब्राह्मणादि हूँ, विचारो इससे परे और क्या अज्ञान होगा, देह तो उपलक्षण है, प्राण, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि दृश्य होने से सब अनात्मा है, सबका जो द्रष्टा सो आत्मा है, देह से परे इन्द्रिय, इन्द्रियों से परे मन, मन से परे बुद्धि, बुद्धि से परे जो बुद्धि का साक्षी सो आत्मा, आत्मा से किंचित् नहीं, और सब संघात भी आत्मा नहीं हो सकता, क्योंकि द्रष्टा, दृश्य विलक्षण होते हैं, देह इन्द्रिय की जो चेष्टा क्रिया में सदा उपचय-अपचयवाली हैं, कभी किसी प्रकार का शरीर, कभी किसी प्रकार की इन्द्रिय, मनादि की चेष्टा देखने में आती है। कभी किसी प्रकार की जिसकी संनिधिमात्र से ये सब चेष्टा करते हैं, एकरस जो इनका द्रष्टा सो आत्मा है। जड़ पदार्थ देहादि जिसकी संनिधि से चैतन्यवत् प्रतीत होते हैं, जैसे चुंबक की संनिधि से लोहा सो आत्मा है, मेरा मन इस समय कहीं गया, अब मैंने स्थिर किया, इस वृत्ति को जो जानता है, सो आत्मा है। जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति का होना, न होना इसको निर्विकार हुआ, जो जानता है, सो आत्मा है। जैसे घट का आभासक दीप, घट से पृथक् है, ऐसे देहादि का आभासक देही पृथक् है। देह स्त्री, पुत्र, मकानादि के नष्ट होते होते जो आपको परम प्रेम का आस्पद प्रतीत होता है, सोई आत्मा है। जैसे सूर्य पाप-पुण्य का साक्षी, असंग निर्विकार है, इसी प्रकार साक्षी चैतन्य रूप निराकार आत्मा है, और ये छः विकार देह के हैं—जायते, अस्ति, वर्द्धते, विपरिणमते, अपक्षीयते, विनश्यति, देह, इन्द्रिय, प्राण, मन, बुद्धि, अज्ञान का लक्षी 'त्वम्' पद का वाच्यार्थ है। अब तत्पद का अर्थ लिखते हैं— परिपूर्ण, एकरस, नित्यानंद, ज्ञानस्वरूप, परमात्मा, सर्वज्ञ,

परमेश्वर, संपूर्ण शक्तिवाला, जिसको वेद ऐसा प्रतिपादन करते हैं, सो परमात्मा ब्रह्म है, जो प्रपंच का कारण, अन्तर्यामी, कर्मों के फल का देनेवाला, जगत् की सृष्टि, स्थिति और लय जिसके सकाश से होते हैं, वही तत्पद का वाच्यार्थ है, और एक शुद्ध, चैतन्य, तत्त्वम् पदों का लक्ष्यार्थ है, तत्त्वम् पदों की एकता दूसरे अध्याय में जैसे लिख आये हैं, वही प्रकार यहाँ चिंतवन कर लेना। तात्पर्य यह कि जो तत्पद का लक्ष्यार्थ है, सोई त्वम् पद का लक्ष्यार्थ है। सो तू है—ऐसा कहो, वा तू सो है, ऐसा कहो, इस प्रकार गुरु ने शिष्य को बोधन किया और कहा कि मैं ब्रह्म हूँ, यह वाक्यार्थ जब तक भले प्रकार दृढ़ न हो, तब तक शम, दमादि साधनों करके युक्त हुआ श्रवण, मनन, निदिध्यासन का अभ्यास नित्य प्रतिदिन करता रहे। श्रवण ऐसे करे। सुना जाता है कि जिस समय कोई ऐसा राग गाता है, तो मृग के मुख में जो तृण होता है, सो बाहर का बाहर और भीतर का भीतर रह जाता है। दृष्टान्त में आप समझ लेना।

दश उपनिषद् बृहदारण्यकादि भाष्य-सहित, शारीरक भाष्य और गीताभाष्य ये तीन प्रस्थान वेदांत के कहलाते हैं। उनको ही ब्रह्म-विद्या कहते हैं। आदित्य-पुराण, पंचदशी आदि ग्रंथों का उन्हीं में अंतर्भाव है। ऐसे-ऐसे ग्रंथों का ब्रह्मनिष्ठों से श्रवण करना। जब तक संशय-विपर्यय भले प्रकार न जावे, तब तक बारंबार आदि से अंत तक इन ग्रंथों का श्रवण करना, इसी का नाम श्रवण है।

मनन ऐसे करना—जैसे पटवा रेशम को सुलझाता है, ऐसे ही जो श्रवण किया, उसको एकांत में बैठकर चिंतवन करे, पूर्वपक्ष

साधन फलादि को पृथक् करे, युक्ति से सिद्धांत वस्तु को पुष्ट करे, इसी का नाम मनन है ।

निदिध्यासन ऐसे करना, जैसे कोई बाज़ार में बैठा हुआ अपना काम कर रहा था, राजा की सवारी आगे को चली गई, कुछ न मालूम हुआ, ऐसे जो मनन करके सिद्धांत वस्तु का निश्चय किया है कि मैं देह, प्राण, इंद्रिय, मन, बुद्धि और अज्ञान का साक्षी कूटस्थ हूँ, इसका सदा चिंतवन करना, इसको तो सजातीय प्रवाह कहते हैं, और जैसे प्रथम देह में अध्यासन था कि मैं ब्राह्मणादि हूँ, इसका सदा चिंतवन न करना इसको विजातीय तिरस्कार कहते हैं । इस प्रकार सजातीय-प्रवाह और विजातीय-तिरस्कार सदा करते रहना, इसीको निदिध्यासन कहते हैं ।

श्रवण से अज्ञान का नाश होता है, मनन करने से संशय का नाश होता है, निदिध्यासन करने से विपर्यय का नाश होता है, फिर महावाक्यार्थ का ज्ञान भले प्रकार दृढ होजाता है, वही मुक्ति का हेतु है ।

सातवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ ७ ॥

आठवाँ अध्याय ।

नित्य यह विचार करता रहे कि यह शरीर इन्द्रिय आदि अविद्या का कार्य है, बुद्बुदवत् नाशवान् है, मैं तो इनसे विलक्षण एकरस हूँ, मैं देह नहीं । इस हेतु से मेरे जन्मादि नहीं, मैं इन्द्रिय नहीं । इस हेतु से शब्दादि विषयों करके मेरा संग नहीं, मैं मन नहीं इस हेतु से दुःख सुखादि मेरे धर्म नहीं, मैं प्राण नहीं इस हेतु से भूँख-प्यास मेरे धर्म नहीं, मैं तो निर्गुण, निष्क्रिय, नित्य, निर्विकल्प,

निरंजन, निराकार, निर्विकार, नित्यमुक्त और निर्मल, आकाशवत् सारे व्यापक बाहर-भीतर बेसंग, अचल, नित्य शुद्ध, नित्य बुद्ध, अखंड आनन्द, अद्वय, अक्षर, अजर, अमर हूँ ।

श्रीशंकराचार्य भगवान् कहते हैं कि इस प्रकार जो अभ्यास निरंतर करता रहे कि मैं इस प्रकार ब्रह्म हूँ, तो यह अभ्यास अविद्या-कार्य के सहित हर लेता है, जैसे रोग को औषध । अभ्यास करने के साधन लिखते हैं । ये साधन गीता-शास्त्र में लिखे हैं— शुद्ध बुद्ध करके युक्त, सत्त्वगुणी, धैर्य से उसी बुद्धि को निश्चय करके शब्दादि विषयों को त्याग करके, रागद्वेष को दूर करके, विविक्त-देश में बैठकर सदा इस प्रकार भोजन का अभ्यास करना योग-शास्त्र में लिखा है । दो भाग तो अन्न करके पूर्ण करे, और एक जल करके, और एक भाग पवन के प्रचार के लिये खाली रक्खे । देह, वाणी और मन का निग्रह करे अर्थात् अपनी इच्छा-पूर्वक अपने-अपने विषय में प्रवृत्त न हो । ध्यान-योग जो निदिध्यासन इसी को मुख्य समझकर नित्य प्रतिदिन इस ध्यान-योग का अभ्यास करते रहना, वैराग्य का आश्रय रखना, अहंकार न करना कि मैं ऐसा विरक्त हूँ, काम, क्रोध और दुराग्रह का त्याग करके प्रारब्ध के बल से जो प्राप्त हो जावे उसी में संतोष करना, जो पदार्थ पराई इच्छा से आ जावे उसमें ममता छोड़कर सदा निदिध्यासन करना, योग के बल से खोटे मार्ग में प्रवृत्त न होना अर्थात् किसी को शाप देना, किसी पर अनुग्रह करना, यह न करना चाहिए । परमेश्वर कहते हैं कि इस प्रकार अभ्यास करने-वाला, जो मेरा वास्तव तत्त्व-स्वरूप है, उसको प्राप्त होजाता है । समस्त दृश्य को आत्मा में लय करके जैसे प्रथम अपवाद लिख आये हैं, एक आत्मा को निर्मल आकाशवत् भावना करता रहे,

रूप वर्णादि को त्याग करके परमार्थ का जाननेवाला, परिपूर्ण चिदानन्द रूप करके स्थित रहे, इस प्रकार अभ्यास करते-करते वृत्ति-ज्ञान उदय होकर अंतःकरण के सहित समस्त अज्ञान को भस्म कर देता है। जैसे मथन करते-करते बाँस में अग्नि उत्पन्न होकर समस्त वन को भस्म कर देती है। जैसे सूर्य के निकलने से प्रथम चाँदना हो जाता है, ऐसे प्रथम मूलाज्ञान का नाश होता है, फिर थोड़े दिनों के पीछे सब कार्य उसके स्थूल देह से लगाकर अविद्यापर्यंत नष्ट होजाते हैं। आत्मा तो सदा प्राप्त है, अविद्या करके अप्राप्तवत् प्रतीत होता है, जैसे अपने गले की माला भूल जावे, फिर किसी के बतलाने से प्राप्तवत् प्रतीत होती है। जैसे स्थाणु में पुरुष, शुक्ति में रजत, रज्जु में सर्प की भ्रान्ति होती है, ऐसे-ऐसे बहुत दृष्टांत हैं, इसी प्रकार ब्रह्म के विषय जीवता है, जैसे दिक् का भ्रम सूर्य के उदय होने से दूर होता है, ऐसे ये वर्ण-आश्रमादि की भ्रान्ति अविद्या के नष्ट होने से, आत्मा के आविर्भाव होने से दूर होती है। जैसे कारण से कार्य भिन्न नहीं, ऐसे जगत् ब्रह्म से भिन्न नहीं। कोई कीड़ भ्रमर का ध्यान करते-करते भ्रमर हो जाता है, ऐसे जो जीव सच्चिदानंदरूप ब्रह्म सच्चिदानन्द ब्रह्म का ध्यान करते-करते ब्रह्म होजावे, तो इसमें क्या कहना है। जैसे किसी घट में १० छिद्र हों, भीतर उसके दीप होवे, उसी दीप की प्रभा दश तरफ को निकलकर परिच्छिन्न प्रतीत होती है, ऐसे आत्मा दीपवत्, शरीर घटवत्, इन्द्रिय छिद्रवत् हैं। जैसे उस दीप को छिद्र द्वारा पवन लगकर उसकी प्रभा मंद रहती है, ऐसे इंद्रिय द्वारा विषय वासनारूपी पवन लगकर आत्मा का सच्चिदानंदरूप मंद-सा प्रतीत होता है। इन्द्रियों के रोकने से आत्मा सच्चिदानंद साक्षात् प्रतीत होता है, यावत् प्रारब्ध कर्म

शेष है तावत् विद्वान् उपाधि में स्थित हुआ प्रतीत होता है, परंतु आकाशवत् लिपायमान नहीं होता। ज्ञानवान् पण्डित भी हैं, परंतु मूर्खवत् जानकर रहता है, किसी जगह वायुवत् आसक्त नहीं होता। जब अविद्या का नाश हो जाता है तब निर्विशेष ब्रह्म में लय होजाता है, इस लाभ से परे कोई और लाभ ब्रह्म-लोकादि का नहीं, इस सुख से परे और कोई सुख चक्रवर्ती राजा इन्द्र ब्रह्मादि को नहीं, इस ज्ञान से परे कोई और ज्ञान भूत भविष्यत् आदि का नहीं, इस प्रत्यय को रूप आत्मा को देखकर मूर्त्तिमान् परमेश्वर के देखने की इच्छा नहीं रहती, यह रूप होकर फिर मनुष्य देवतादि रूप नहीं होता। यह जो आनंदरूप है, इस आनंद के एक लेश में ब्रह्माजी से लेकर चींटी-पर्यंत आनंदी हैं, जिसकी आभा करके सूर्य चंद्रादि भासते हैं। सूर्य चंद्रादि की आभा करके जो नहीं प्रतीत होता, वही प्रत्यगात्मा ब्रह्म है। यह रूप ज्ञानचक्षु करके दीखता है, कर्मचक्षु करके नहीं दीखता। जैसे अंधे को सूर्य उदित हुआ नहीं प्रतीत होता। तात्पर्य यह कि यह रूप अधिकारी को प्रतीत होता है। जैसे स्त्री-संग का आनंद तरुण-अवस्था में आठ-दश वर्ष की अवस्था में लड़का-लड़की जो उस आनंद का अनुभव किया चाहे, तो क्या हो सकता है। जिनके मैले अंतःकरण हैं, उनको इस रूप का साक्षात् नहीं हो सकता। अंतःकरण मैले होने से; देवता, गुरु, वेदांत-शास्त्र में श्रद्धा का अभाव होता है। श्रद्धा के बिना गुरु कृपा नहीं करते, गुरु की कृपा के बिना कभी किसी काल में न ज्ञान हुआ है, न होगा।

श्रीशंकराचार्य भगवान् कहते हैं कि हजारों श्रुति अद्वैत ब्रह्म का प्रतिपादन करती हैं, और यह आत्मा सच्चिदानंदरूप

भले प्रकार निरंतर प्रकाशवाली भी हैं, परंतु विना गुरु की कृपा, मैले अंतःकरणवाले साक्षात् करने को समर्थ नहीं, इसलिये चाहिये, प्रथम अंतःकरण की शुद्धि का उपाय करे, क्योंकि श्री-भगवान् ने भी प्रथम अर्जुन को ज्ञान-उपदेश किया, फिर कहा हे अर्जुन ! हमने तुमको ज्ञान-उपदेश किया, जो तुमको यह ज्ञान अपरोक्ष न हुआ हो, तो अंतःकरण की शुद्धि के लिये निष्काम कर्म-योग सुनो । जैसे सोना मैला होता है, उसको अग्नि में ताय-कर शुद्ध कर लेते हैं, ऐसे अंतःकरण को निष्काम कर्म-योग करके शुद्ध करना चाहिये । ज्ञान की इच्छावाले को प्रथम निष्काम कर्म मुख्य है । शुद्धांतःकरणवाले को समाधि साधन मुख्य है ।

प्रश्न—शुद्धांतःकरणवाले की क्या परीक्षा है ?

उत्तर—जब जाने, यहाँ के जो देखे-सुने स्त्री आदि पदार्थ हैं, स्वर्गादि के अमृतादि पदार्थ जो सुने हैं, सबको चित्त न चाहे, दुःखदायी जाने, मुक्ति की इच्छा हो, तब निश्चय करे कि अंतः-करण शुद्ध हो गया, फिर विवेक-वैराग्यादि साधनों करके युक्त हो-कर यों विचार करे कि मैं कौन हूँ, और यह जगत् कैसे हुआ है, इसका कर्ता कौन है और उपादान क्या है, इसी का नाम विचार है । यह देह पंचभूतों का विकार मैं नहीं, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, आदि मैं नहीं, उनसे कोई विलक्षण हूँ, और जो किसी ने प्रथम न्याय-शास्त्र, पूर्व-मीमांसा वा पुराणादि पढ़े सुने हों, वेदांतशास्त्र न सुना हो, इस हेतु से उसके बहुत संशय-विपर्यय हों, तो शारीरक-भाष्य पढ़े सुने, वहाँ भले प्रकार युक्तिपूर्वक निश्चय हो सकता है । भारत, भागवतादि में तो जिस जगह जो ज्ञान का प्रसंग है, तब तो यों ही प्रतीत होता है कि ज्ञान मुख्य है, और जिस जगह कर्म उपासनादि का प्रसंग है, वहाँ कर्म आदि मुख्य प्रतीत होते हैं ।

वैष्णवादि अपने-अपने मत को मुख्य बताते हैं, औरों की असूया करते हैं। भागवतादि में स्पष्ट यह नहीं प्रतीत होता कि समस्त वेद, भारत, पुराणादि का कहाँ समन्वय है अर्थात् मुख्य प्रयोजन किसमें है।

शारीरक-भाष्य में भले प्रकार श्रुति, स्मृति, युक्ति दृष्टांत दे देकर और अनेक दोष भेदवाद आदमियों के मतों में दिखाकर, और जिसलिये कर्म उपासनादि का वेदों में प्रसंग है, उतने अंश को अंगीकार करके यह सिद्ध किया है कि समस्त वेद-शास्त्र पुराणादि का ब्रह्म में समन्वय है, सब श्रुति, स्मृति, प्रवृत्ति-निवृत्ति मार्ग की कोई साक्षात्, कोई परम्परा करके ब्रह्म को बोधन करती हैं। और जो यह विरुद्ध प्रतीत होता है कि कोई श्रुति कहती है—ब्रह्म मन का विषय नहीं, कोई कहती है—ब्रह्म सूक्ष्म मन बुद्धि करके जाना जाता है, कहीं ऐसा सुना जाता है जब वैराग्य होवे, उसी समय संन्यास करे, कहीं ऐसा सुना जाता है, माता-पिता, स्त्री आदि के त्याग में दोष है, ऐसे-ऐसे विरुद्ध वाक्य अनेक हैं। विचारने से विरोध वास्तविक नहीं, क्योंकि जैसा अधिकारी देखा, वैसा ही उपदेश किया। तात्पर्य यह कि सबका अविरुद्ध भले प्रकार शारीरक-भाष्य में निश्चय हो सकता है और मुक्ति के साधन ऐसे-ऐसे सुने जाते हैं कि अंत मुक्ति का साधन है और तीर्थ श्री-गङ्गाजी से लेकर यावत् हैं, उनमें स्नान करना, बद्रीनारायणजी से आदि लेकर दर्शन, पाषाणादि मूर्त्तियों का पूजन करना, पाठ जप करना, चतुर्भुजी आदि मूर्त्तियों का ध्यान करना, सगुण-निर्गुण ब्रह्म की उपासना से लगाकर वेदान्त-शास्त्र का श्रवण, मनन, निदिध्यासन तक यों ही सुना जाता है, ये सब मुक्ति के साधन हैं। अर्थात् एक एकादशी के व्रत करने से मुक्त हो जाता है, विष्णुचर-

णोदक पान करने से,श्रीगङ्गाजी में स्नान करने से मुक्त हो जाता है । तात्पर्य यह कि सबके माहात्म्य में यों हीं प्रतीत होता है कि ये सब मुक्ति के साधन हैं । अब यह विचारना चाहिये कि मुख्य साधन कौन है, जिससे निश्चय मुक्ति हो जावे, और जो किसी के यह विश्वास है कि एकादशी आदि व्रत करने से, बद्रीनारायणादि के दर्शन करने से, श्रीगंगाजी में स्नान करने से, निश्चय मुक्त हो जाता है, फिर तृप्ति क्यों नहीं होती । तात्पर्य यह कि मुख्य साधन मुक्ति का—वेदांत-शास्त्र का श्रवण, मनन, निदिध्यासन है, और सब परंपरा करके गौण है, इस बात को भी प्रमाणपूर्वक शारीरक भाष्य में सिद्ध किया है, और जो कि पूर्व मीमांसावाले स्वर्गादि की प्राप्ति को मुक्ति कहते हैं, और कोई एकदेशी उनको कहते हैं कि नित्य-सुख का प्रकट रहना मुक्ति है । सांख्यशास्त्रवाले कहते हैं देह, बुद्धि आदि में अहंकार की निवृत्ति होने पर उदासीन रहना मुक्ति है । पुराणवाले सालोक्य,सामीप्य,सारूप्य, सायुज्य को मुक्ति कहते हैं । चारवाक् कहते हैं किसी के आधीन न होना मुक्ति है । न्यायशास्त्रवाले कहते हैं कि २१ दुःखों का अत्यंत नाश हो जाना मुक्ति है । इक्कीस दुःख न्यायशास्त्र में प्रसिद्ध हैं अत्यंत नाश अत्यन्ताभाव को कहते हैं ।

अभाव चार प्रकार का है । प्रागभाव—जो घट से प्रथम घट का अभाव । प्रध्वंसाभाव—जो घट के नाश हो जाने में घट का अभाव । अन्योऽन्याभाव—जैसे पट में घट का अभाव । अत्यंन्ताभाव—जैसे शशे के सींग का अभाव, और अनेक ब्रह्मलोक, गोलोकादि की प्राप्ति को मुक्ति कहते हैं । गरुड़वाले जो कहते हैं, सो तो लोक में बहुत प्रसिद्ध है, और भी अनेक मत हैं ।

अब विचारना चाहिये कि मुक्ति का क्या अर्थ है, इसका

भी निश्चय शारीरक भाष्य में किया है कि अविद्योपहित जीव-नामा शुद्ध चैतन्य का प्रतिबिम्ब मिथ्याभ्रांति से आपको जीव मानता है। अविद्या की उपाधि से समस्त संसार मुक्तिपर्यंत कल्प रक्खा है। ब्रह्मज्ञान से अविद्या का नाश होने पर जीवरूप भ्रांति का दूर होना यह मुक्ति है। सर्व अनर्थों की निवृत्ति परमानंद की प्राप्ति इसी मुक्ति का लक्षण है। जैसे किसी घटगत जल में जो प्रतिबिम्ब, सो जल के दूर होने से नाश हो जाता है। फिर यह नहीं कहा जाता कि प्रतिबिम्ब कहाँ गया, और प्रतिबिम्ब के नाश होने, और न होने में सूर्य कुछ और प्रकार के नहीं हो जाते। दृष्टांत में समझो कि शुद्ध चैतन्य जैसे प्रथम था, वैसे ही पीछे रहा, जैसे स्वप्न के खुलते हुए स्वप्न में जो पदार्थ कल्प रक्खे थे सब उसी समय नष्ट हो जाते हैं, ऐसे पीछे विदेहमुक्ति के समस्त संसार नाश हो जाता है। कोई ऐसा न विचार करे कि मैं तो मुक्त हो जाऊँगा, मेरे शत्रु मित्रादि और जगत् बना रहेगा, उनके पीछे के लिये यत्न करना मूर्खता है। स्वप्न के दृष्टांत को भले प्रकार विचारना चाहिये कि वेदांतशास्त्रवालों का जो कहना है, वह तो अनुभव में भी आता है, श्रुति-स्मृति आदि प्रमाण करके सिद्ध होसकता है और किसी शास्त्र पुराणादि का मत अनुभव में नहीं आता है, वेदों से विरुद्ध स्पष्ट प्रतीत होता है। विचारो, जैसे जीव का देहपात हुआ, यमपुरी को अथवा स्वर्ग को वा पितृलोक वैकुण्ठादि को गया वा उसका जन्म उसी समय इस लोक में होगया, वा गरुड़वाले जो कहते हैं, या उसी की व्यवस्था हुई, और यह बात कैसे अनुभव में आवे कि सारी अवस्था में तो मूर्खता के काम करे, अंतकाल में काश्यादि में मरने से नियम करके मुक्त हो जाता है। जो ऐसे वाक्यों में हठ करते हैं, तो मुक्ति

के लिये ज्ञानादि में क्यों माथा मारते हैं, कहाँ तक लिखें, हजारों ऐसी व्यवस्थाएँ हैं, सब मतवाले अपने-अपने मत को युक्ति देकर सिद्ध करते हैं, परंतु सब व्यवस्थाएँ कोई भले प्रकार नहीं कहते, क्योंकि स्वर्ग को नित्य कोई, अनित्य कहते हैं कोई—

काश्यां मरणान्मुक्तिः ।

इस श्रुति का अर्थ और ही प्रकार कहते हैं। और यों भी भले प्रकार नहीं प्रतीत होता कि स्वर्ग, वैकुंठ, कैलास, ब्रह्मलोक, गोलोकादि का कैसे भेद है, जैसे कि सात लोक भूर्भुवादि हैं, उनमें ही उनका अंतर्भाव है वा कुछ और प्रकार है अथवा जिसको ब्रह्मलोक कहते हैं उसी को वैकुंठ, पितृलोकादि कहते हैं। जैसे यों स्थिति की व्यवस्था है, इससे सिवाय सृष्टि की व्यवस्था है, क्योंकि जब प्रत्यक्ष की व्यवस्था नहीं बैठ सकती, तो परोक्ष की कौन बैठा सके। यद्यपि यह व्यवस्था कहीं न कहीं लिखी हो, परंतु मेरे श्रवण करने में नहीं आई, जो किसी ने सुनी हो, प्रमाणपूर्वक अनुभव आवे, तो हमको भी यों ही इष्ट है कि जैसे बने संशय दूर कर देना चाहिये, यथामति मैं कहता हूँ, किसी पक्ष में मेरा हठ नहीं। जो व्यवस्था मुझको शास्त्र में प्रतीत होती है उसे लोक में यवनादि बहिस्तादि कहते हैं, और इस बात में तो किसी को भी सन्देह नहीं कि परमेश्वर सबका एक है और यह भी निश्चय होता है कि यवनादि भी नरक स्वर्गादि के अधिकारी हैं। यह नियम नहीं कि सब नरक ही को जावें, क्योंकि श्रीभगवान् कहते हैं कि सत्त्वगुणी ऊपर के लोकों को प्राप्त होवेगा। शम, दम संतोष, दया, कोमलता, क्षमा, दानादि सत्त्वगुण की वृत्तियाँ हैं, उनमें दीखती हैं इस हेतु से निश्चय होता है कि सत्त्वगुण की तारतम्यता से स्वर्गादि के अधिकारी हैं। तात्पर्य यह कि इन सबके मतों से मेरी

जान में अविरोध की व्यवस्था नहीं बैठ सकती, परंतु वेदांत-शास्त्र के मत से बैठ सकती है, सो सुनो।

वेदांतशास्त्रवाले ऐसा कहते हैं कि यह जगत् अज्ञान करके कल्प रक्खा है, स्वप्नवत् मिथ्या है, जैसे स्वप्न में एक स्त्री के साथ एक समय दस पुरुष संग करें, जो दशों का सच्चा है, विचारने से झूठा है। तदुक्तम्—

चौ० देखिय सुनिय गुनिय मन माहीं, मोह मूल परमारथ नाहीं॥

अर्थात् जगत् का कारण मूल अज्ञान ही है, परमार्थ में नहीं। जैसे एक रज्जु पड़ी है, कोई उसको सर्प, कोई मूत्रधारा, कोई दंड कहते हैं, सबका कहना भ्रांतिकाल में सच्चा, परमार्थ में झूठा है। ऐसे भ्रांतिकाल में एक ब्रह्म में कल्पित स्वर्ग वैकुंठादि सब सच्चे, परमार्थ में झूठे हैं। इस बात की सिद्धि में बहुत श्रुति, स्मृति, युक्ति, दृष्टांत, इतिहासादि प्रमाण हैं। वाशिष्ठादि ग्रन्थों में अनेक इतिहास हैं। वशिष्ठजी ने श्रीरामचन्द्रजी को अनेक इतिहास सुनाकर इसी बात को सिद्ध किया है, कई पुरुषों ने तप करके यह वर माँगा कि हम सब इसी काल में ब्रह्मा हो जावें, वे सब ब्रह्मा हो गये, और ये ब्रह्माजी भी बने रहे, और उन सबके ब्रह्माण्ड पृथक्-पृथक् हुए और एक ऋषि ने तप करके परमेश्वर से वर माँगा, हे परमेश्वर! आपकी माया देखूँ। परमेश्वर ने कहा, जो दृश्य पदार्थ हैं, सब माया हैं। ऋषि को यों निश्चय रहा कि माया शब्द करके कोई और पदार्थ है, फिर परमेश्वर से प्रार्थना की कि महाराज! नहीं घटने के योग्य जो पदार्थ, उसके घटाने में जो चतुर वह माया देखना चाहता हूँ। महाराज ने वर दे दिया कि देखोगे।

एक दिन वे ऋषि हृषीकेश स्थान में, गङ्गाजी में स्नान करते थे।

गङ्गाजी के तीर आसन आदि पूजा के उपस्कर (सामग्री) रख दिये। ऋषि ने जल में जो डुबकी मारी, तो वे ऋषि अपना ऋषिपना तो भूल गये, किसी धीवर की लड़की होगये। काल पाकर उस लड़की का विवाह होगया, ४० वर्ष की अवस्था में कई लड़के व लड़की उसके उत्पन्न हुए और अपने पति के संग में जो आनंद और संग करके दुःख, और संसार के अनेक ताप, और बालकों के खिलाने, देखने में जो आनंद, और मल मूत्र धोने में जो दुःख, सबको वे ऋषि स्त्री होकर अनुभव करने लगे। एक दिन वह स्त्री उसी जगह, जहाँ ऋषि ने डुबकी मारीथी, जल भरने के लिये गई, घट को गंगाजी के तीर रखकर गंगाजी में स्नान करने लगी, जब नीचे को डुबकी मारी। तब तो वह स्त्री थी, जब ऊपर को मुख उघाड़ा, तब अपने शरीर को देखे, तो ऋषि का शरीर होगया, और गंगाजी के तीर घट भी रक्खा दीखता है, आसन आदि पूजा की सामग्री भी रक्खी हुई दीखती है, यह भी स्मरण होता है कि मैं अमुक ऋषि हूँ, नित्य यहाँ स्नान करने के लिये आता हूँ और यह भी स्मरण होता है कि मैं अमुक पुरुष की स्त्री हूँ, यहाँ जल भरने के लिये आई थी। पहले घर का भी व्यवहार स्मरण हो[ता] है, पिछले घर का भी व्यवहार स्मरण होता है, दोनों घरों [में] प्रीति है। स्पष्ट यह निश्चय नहीं हो सकता है कि मैं ऋषि अथवा स्त्री हूँ। उस काल में उस स्त्री का पति अपने लड़के को गोद में लिये हुये उसी जगह आया। ऋषि ने देखा कि निश्चय यही मे[रा] पति है, फिर भले प्रकार निश्चय होगया कि मैं गंगाजी में स्ना[न] करने से ऋषि होगया। उस पुरुष ने ऋषि से पूछा कि महाराज मेरी स्त्री यहाँ जल भरने आई थी, घट उसका यह रक्खा है, व[ह] कहाँ गई, आपने भी उसको देखा है। उसका वाक्य सुनकर

और बालक लड़के को देखकर मोह होगया, ऋषि रोने लगा। उस पुरुषने प्रार्थना करके पूछा महाराज! वह स्त्री गंगाजी में डूब गई अथवा किसी सिंहादि ने खा लिया, और तुम क्यों रोते हो? ऋषि कहते हैं वह स्त्री तो मैं हूँ, गंगाजी में स्नान करने से ऋषि होगया, इस बात की सिद्धि के लिये समस्त व्यवस्थाएँ पिछले घर की और लड़के लड़कियों के नामादि कह दिये। उस पुरुष को निश्चय होगया कि निःसंदेह यह मेरी स्त्री है। ऋषि उस पुरुष से कहते हैं कि इस लड़के को भले प्रकार पालना, यह करना, वह करना। उसने कहा कि तुम घर को चलो, जो हुआ सो हुआ। बालकों को खिलाते रहना और घर के काम करते रहना। ऋषिजी उसके साथ हुये, उसी समय वह परमेश्वर की माया दूर होगई, यह व्यवस्था कोई एक पल में बीती, जितनी देर जल में डुबकी मारी। तब ऋषिजी ने ऊपर को शिर उभारा, देखते हैं, वही महीना, वही मुहूर्त्त, न वह पुरुष, न वह घट है, ऋषिजी को निश्चय हुआ कि यह परमेश्वर की माया देखी। स्कन्दपुराण के केदारखंड में यह कथा भले प्रकार लिखी हुई है, और वाशिष्ठादि ग्रंथों में ऐसी बहुत कथाएँ हैं और बहुत प्राणियों को यह बात प्रत्यक्ष है कि स्वप्न तो घड़ी अथवा दो घड़ी रहा, और राज्यादि १०० वर्ष किये, भले प्रकार विचारो, माया में क्या नहीं बन सकता, और यह जाग्रत् निश्चय स्वप्न की बराबर है, क्योंकि जाग्रत् के पदार्थ दुःख-सुख के हेतु हैं और अनित्य हैं, ऐसे ही स्वप्न के पदार्थ हैं, और जैसे जाग्रत् में स्वप्न का निश्चय किया करते हैं, ऐसे स्वप्न में भी स्वप्न का निश्चय किया करते हैं। तात्पर्य यह कि जाग्रत् में जो प्रपंच दीखता है, समस्त स्वप्न की बराबर है, माया है, इससे सिवाय और क्या माया होगी कि गर्भ

गङ्गाजी के तीर आसन आदि पूजा के उपस्कर (सामग्री) रख दिये। ऋषि ने जल में जो डुबकी मारी, तो वे ऋषि अपना ऋषिपना तो भूल गये, किसी धीवर की लड़की होगये। काल पाकर उस लड़की का विवाह होगया, ४० वर्ष की अवस्था में कई लड़के व लड़की उसके उत्पन्न हुए और अपने पति के संग में जो आनंद और संग करके दुःख, और संसार के अनेक ताप, और बालकों के खिलाने, देखने में जो आनंद, और मल मूत्र धोने में जो दुःख, सबको वे ऋषि स्त्री होकर अनुभव करने लगे। एक दिन वह स्त्री उसी जगह, जहाँ ऋषि ने डुबकी मारीथी, जल भरने के लिये गई, घट को गंगाजी के तीर रखकर गंगाजी में स्नान करने लगी, जब नीचे को डुबकी मारी। तब तो वह स्त्री थी, जब ऊपर को मुख उघाड़ा, तब अपने शरीर को देखे, तो ऋषि का शरीर होगया, और गंगाजी के तीर घट भी रक्खा दीखता है, आसन आदि पूजा की सामग्री भी रक्खी हुई दीखती है, यह भी स्मरण होता है कि मैं अमुक ऋषि हूँ, नित्य यहाँ स्नान करने के लिये आता हूँ और यह भी स्मरण होता है कि मैं अमुक पुरुष की स्त्री हूँ, यहाँ जल भरने के लिये आई थी। पहले घर का भी व्यवहार स्मरण हो[ता] है, पिछले घर का भी व्यवहार स्मरण होता है, दोनों घरों [में] प्रीति है। स्पष्ट यह निश्चय नहीं हो सकता है कि मैं ऋषि अथवा स्त्री हूँ। उस काल में उस स्त्री का पति अपने लड़के को गोद [में] लिये हुये उसी जगह आया। ऋषि ने देखा कि निश्चय यही मे[रा] पति है, फिर भले प्रकार निश्चय होगया कि मैं गंगाजी में स्ना[न] करने से ऋषि होगया। उस पुरुष ने ऋषि से पूछा कि महाराज मेरी स्त्री यहाँ जल भरने आई थी, घट उसका यह रक्खा है, व[ह] कहाँ गई, आपने भी उसको देखा है। उसका वाक्य सुनक[र]

और बालक लड़के को देखकर मोह होगया, ऋषि रोने लगा। उस पुरुषने प्रार्थना करके पूछा महाराज! वह स्त्री गंगाजी में डूब गई अथवा किसी सिंहादि ने खा लिया, और तुम क्यों रोते हो? ऋषि कहते हैं वह स्त्री तो मैं हूँ, गंगाजी में स्नान करने से ऋषि होगया, इस बात की सिद्धि के लिये समस्त व्यवस्थाएँ पिछले घर की और लड़के लड़कियों के नामादि कह दिये। उस पुरुष को निश्चय होगया कि निःसंदेह यह मेरी स्त्री है। ऋषि उस पुरुष से कहते हैं कि इस लड़के को भले प्रकार पालना, यह करना, वह करना। उसने कहा कि तुम घर को चलो, जो हुआ सो हुआ। बालकों को खिलाते रहना और घर के काम करते रहना। ऋषिजी उसके साथ हुये, उसी समय वह परमेश्वर की माया दूर होगई, यह व्यवस्था कोई एक पल में बीती, जितनी देर जल में डुबकी मारी। तब ऋषिजी ने ऊपर को शिर उभारा, देखते हैं, वही महीना, वही मुहूर्त्त, न वह पुरुष, न वह घट है, ऋषिजी को निश्चय हुआ कि यह परमेश्वर की माया देखी। स्कन्दपुराण के केदारखंड में यह कथा भले प्रकार लिखी हुई है, और वाशिष्ठादि ग्रंथों में ऐसी बहुत कथाएँ हैं और बहुत प्राणियों को यह बात प्रत्यक्ष है कि स्वप्न तो घड़ी अथवा दो घड़ी रहा, और राज्यादि १०० वर्ष किये, भले प्रकार विचारो, माया में क्या नहीं बन सकता, और यह जाग्रत् निश्चय स्वप्न की बराबर है, क्योंकि जाग्रत् के पदार्थ दुःख-सुख के हेतु हैं और अनित्य हैं, ऐसे ही स्वप्न के पदार्थ हैं, और जैसे जाग्रत् में स्वप्न का निश्चय किया करते हैं, ऐसे स्वप्न में भी स्वप्न का निश्चय किया करते हैं। तात्पर्य यह कि जाग्रत् में जो प्रपंच दीखता है, समस्त स्वप्न की बराबर है, माया है, इससे सिवाय और क्या माया होगी कि गर्भ

में ठहरकर वीर्य चेष्टा करने लगता है, और वहनेवाला जो पदार्थ वीर्य है, उसका कार्य कैसा कठिन होजाता है । फिर उसी वीर्य में देखो, कैसे हाथ-पैर आदि वन जाते हैं । फिर वही ब्राह्मण, साधु, चोर, जार, कहा जाता है । किसी काल में तो वह लाड़ करने के योग्य, किसी काल में भोग करने के योग्य, किसी काल में पूजन करने के योग्य होता है, किसी काल में उसको देखकर प्राणी ग्लानि मानते हैं, किसी काल में उसके पुत्रादि चाहते हैं कि यह मर जावे, तो सुंदर है । किसी काल में उस शरीर के स्पर्श करने से पातक लगता है, मकान वस्त्र आदि अपवित्र होजाते हैं । विचारो, एक पदार्थ में कितनी-कितनी अवस्थाएँ वीतती हैं। जो एकरस पदार्थ नहीं, सबको एक प्रकार का न दीखे, वही माया है । चित्त तो बहुत चाहता कि ऐसी-ऐसी कथाएँ लिखकर इस बात को करामलकवत् सिद्ध कर दें, परंतु ग्रंथ का विस्तार होता है, बुद्धिमान् लोग एक [illegible] में विचार लें ।

अब विचारो कि वेदांतशास्त्र का मत कैसा सुंदर है, परमेश्वर को तो परिपूर्ण, नित्य-मुक्त, [illegible]नन्दादि रूप सिद्ध करना। भक्ति ऐसी करनी, अपना आपा समस्त प[illegible]श्वर में झोक दें। अपने अंश के न रखने से परमेश्वर की पूर्णता सिद्ध होती है और सबके मत को अंगीकार करना, सच्चा बताना । यद्यपि सब के पदार्थ झूठे हैं, परंतु उस समय में तो सच्चे हैं, और सब मतवाले अपने ही मत को हठ करके सिद्ध करते हैं, औरों की असूया करते हैं ।

पूर्व मीमांसावाले परमेश्वर को नहीं मानते । जो भेद उपासनावाले परमेश्वर को मानते भी हैं, तो परिच्छिन्न मानते हैं । जीव ब्रह्म का भेद कहाँ स्पष्ट प्रतीत होता है, जब परमेश्वर परिच्छिन्न

है, और जो वे ऐसा कहें कि परमेश्वर की माया में क्या नहीं बन सकता, तो परमेश्वर उनको आनंद रक्खें, क्योंकि यही हमारा सिद्धांत है ।

जब भेदवादियों को अपने मत में ठिकाना नहीं मिलता, तब माया को अंगीकार करते हैं। माया को अंगीकार किया और वेदांत-शास्त्र में प्रवेश हुआ । क्योंकि वेदांत के सिवाय और कोई प्रमाण नहीं । वेदांत को त्याग करके वृथा और अनात्मशास्त्रों में माथा मारते हैं ।

अट्ठारह विद्याएँ हैं। मुक्ति के लिये मुख्य वेदांत-शास्त्र है । चौदह विद्या तो ये हैं—

ऋग्, यजुष्, साम, अथर्वण ये चार वेद और छः इनके अंग-शिक्षा, कल्प, व्याकरण, ज्योतिष, छंद और निरुक्त एवं मीमांसा-शास्त्र, तर्कशास्त्र, पुराण और धर्मशास्त्र ये चौदह विद्याएँ हैं ।

वेदांतशास्त्र का मीमांसा में अंतर्भाव है। वैशेषिक-शास्त्र का तर्कशास्त्र में, और सांख्य, पातंजल, पाशुपत, वैष्णव, रामायण, भारत आदि का धर्मशास्त्र में अंतर्भाव है। पुराण अट्ठारह हैं—ब्राह्म, पाद्म, स्कन्द, मार्कण्डेय, शैव, वैष्णव, गणेश, सौर, भागवत, भविष्यत्, ब्रह्मवैवर्त्त, लिङ्ग, वामन वाराह, कूर्म, मत्स्य, गरुड़ और ब्रह्माण्ड। एवं उपपुराण—वाशिष्ठ, लिङ्ग, नारसिंह, नन्दीय, नारदीय, वामनीय, हंस, तत्त्वसार, दौर्वास्य, शिव-धर्म, कापिल, वामन, वरुण, रेणुक, वायवीय, कालीय, महेश्वर, पाराशर, मारीच, भार्गवादि भेद से बहुत हैं । मनु, याज्ञवल्क्य, विष्णु, यम, आंगिरस, वशिष्ठ, दक्ष, संवर्त्त, शातातप, पाराशर, गौतम, शङ्ख, लिखित, हरित, आपस्तम्बी, संस, कात्यायन, वात्स्यायन, बृहस्पति, देवल, नारद, पैठीनसी इनके और औरों के भी किये हुए

बहुत धर्म-शास्त्र हैं। कोई अट्ठारह विद्या कहते हैं—धनुर्वेद, आयुर्वेद, गांधर्ववेद और अर्थशास्त्र ये चार मिलकर अट्ठारह हो जाती हैं। काम-शास्त्र का आयुर्वेद में अंतर्भाव है। नीति-शास्त्र, शिल्प-शास्त्र, अश्व-शास्त्र, गज-शास्त्र, सूपकार-शास्त्र और चौंसठ कलाओं का अर्थ-शास्त्र में अंतर्भाव है। इस प्रकार अट्ठारह विद्याएँ हैं।

वेदांत-शास्त्र का यह सिद्धांत है कि यह संसार स्वप्नवत् है, निष्प्रपञ्च ब्रह्म में भ्रांति करके नाना प्रकार की कल्पना कर रक्खी है। जैसे कोई बागड़भूमि में दूर से रेती को देखकर कहे कि यह नदी है, कोई कहता है—इसमें थोड़ा जल है, कोई कमर तक जल कहता है, कोई अगम्य जल कहता है। तात्पर्य यह कि सबकी कल्पनाएँ झूठी हैं। जो जगत् सच्चा होता, तो बड़े-बड़े बुद्धिमान्, मीमांसा, सांख्य, पातञ्जल, न्यायशास्त्रादिवालों का सबका एक मत होता, सबका मत पृथक्-पृथक् होने से स्पष्ट प्रतीत होता है कि निष्प्रपंच ब्रह्म में भ्रांति से जगत् कल्पित है, इस बात की सिद्धि में बहुत श्रुति, स्मृति आदि प्रमाण हैं, और अनुभव में भी आवे हैं, जैसी किसी की बुद्धि है, वैसा ही वैसा जगत् को कहते हैं। और ईश्वर को भी यथामति अंतर्यामी से लगाकर कुलदेवता, माता शीतला और पीपल वृक्षादि जड़पदार्थ तक कहते हैं, सो कुछ थोड़ा-थोड़ा हम उनका भी प्रसंग से सुनो—

पूर्व मीमांसाशास्त्रवाले तो कहते हैं कि कर्म करने से मुक्ति होती है, स्वर्गादि की प्राप्ति को मुक्ति कहते हैं। कर्म फलदाता है, और कोई ईश्वर नहीं। स्वर्गादि नित्य हैं, उनकी उत्पत्ति प्रलय नहीं। कोई एक देशी उनके ईश्वर को भी मानते हैं। सांख्यशास्त्रवाले यह कहते हैं कि जैसे दूध का दधि परिणाम होजाता है, ऐसे प्रकृति, जगत् रूप करके परिणाम होगई है, और पुरुष जलगत पद्मपत्रवत्

असंग है। तात्पर्य यह कि परिणामवाद सांख्यशास्त्रवालों का है या आरम्भवाद शास्त्रवालों का है।

न्यायशास्त्रवाले यों कहते हैं कि यह जगत् प्रलय के समय ईश्वर की इच्छा से परिणामरूप होजाता है अर्थात् पृथ्वी, जल, तेज, वायु के परिमाणु होजाते हैं, और सृष्टि के समय ईश्वर की इच्छा से परिमाणु मिलकर द्व्यणुक, त्र्यणुक होकर फिर ऐसे ही पृथ्वी आदि होजाते हैं और कहते हैं कि इस जगत् में सब सात पदार्थ हैं। पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, काल, दिक्, आत्मा और मन। इन नौ पदार्थों को तो एक द्रव्य बोलते हैं। और रूप, रस, गंध, स्पर्श, संख्या, परिमाणु, पृथक्, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, गुरुत्व, द्रवत्व, स्नेह, शब्द, बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म और संस्कार, इन चौबिस पदार्थों को एक गुण बोलते हैं, ये गुण द्रव्यों में रहते हैं। इसी प्रकार कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय और अभाव ये पाँच पदार्थ हैं। और यावत् जगत् में पदार्थ हैं, उनका इन्हीं सात पदार्थों में अंतर्भाव है। जीव ईश्वर का भेद कहते हैं—

जीव और ईश्वर दोनों व्यापक हैं। पृथिवी आदि चार द्रव्य को परमाणु रूप करके नित्य कहते हैं। आकाशादि पाँच द्रव्य को सदा नित्य कहते हैं।

व्याकरणवाले कहते हैं—शब्द ब्रह्म है, सो नित्य है। तात्पर्य यह कि वैयाकरण स्फोटवादी हैं।

पुराणवालों का मत प्रसिद्ध है। कोई विष्णु, कोई शिव, शक्ति, गणेश और सूर्य को ईश्वर कहते हैं। अपने-अपने मत के पृथक्-पृथक् शास्त्र सात्वत तंत्र, नारद-पंचरात्र, कमलार्णवादि बना रक्खे हैं। तात्पर्य यह है कि पुराणवालों का मत, जैसा कि

गरुड़वाले कहते हैं, यह बहुत प्रसिद्ध है, कहाँ तक लिखें बहुत मत हैं ।

सांख्य, न्याय शास्त्रादिवालों का मत उसी जगह निश्चय हो सकता है, यहाँ तो एक नाममात्र उनका मत दिखा दिया है, और नास्तिक, बौद्ध, चार्वाक आदि अट्ठारह मत तो मुख्य हैं, और भी बहुत भेद हैं । वे ईश्वर और वेद को नहीं मानते, कोई शून्यवादी, कोई कालवादी, कोई स्वभाववादी, कोई विज्ञानवादी हैं, कोई कपाली मत के हैं । नाना मत नास्तिकों के हैं और कठिन हैं ।

पुराणवालों के मत से उनका बहुत बारीक मत है । ऐसे-ऐसे मत न्याय, वेदान्त के पूर्व पक्षों में बहुत लिख रक्खे हैं, क्योंकि वेदान्ती और नैयायिक उनके मत का खंडन कर सकते हैं । पुराणवालों से उनका मत खंडन नहीं होसकता, उनकी युक्ति बहुत बारीक है, और जो पाखंड अब कलियुग में प्रसिद्ध है उनका लिखना योग्य नहीं । तात्पर्य यह कि चार वर्ण, चार आश्रम, और अनुलोमज, प्रतिलोमजादि जाति शास्त्र-विहित हैं, उनसे पृथक् जिसका वेद और स्मृतियों में पता न लगे, सब पाखंडी मनुष्यों के रचे हुये हैं, बुद्धिमान् को विचार लेना चाहिये ।

अंतर्यामी हिरण्यगर्भ विराट् को वैदिक उपासनावाले ईश्वर कहते हैं । शिव, विष्णु, शक्ति, सूर्य, गणेशादि को पुराणवाले ईश्वर कहते हैं । भूम या भौपाल, भूत, पिशाच, योगिनी, आपा, पीपल, कुदालादि अनेक हैं, उनको प्राकृत जीव ईश्वर कहते हैं, इसके पूजने से सृष्टि होती है, इस हेतु से वे ईश्वर कहते हैं । वेदों में और लोक में अन्तर्यामी सूत्रात्मादि भेद करके विष्णु, शिवादि भेद करके, राम कृष्णादि भेद करके, राधावल्लभ गोपा-

लादि भेद करके, हनुमान् भैरवादि भेद करके, पाषाण मृत्तिकादि भेद करके, हज़ारों भेद ईश्वर के प्रतीत होते हैं। अब बुद्धिमान् विचारें, कौन सा ईश्वर सच्चा है, कौन सा मत सच्चा है, हम सत्य कहते हैं, यों हीं विचारो कि यह सब माया है, विवर्तवाद आभासवाद, अजातवाद वेदांतशास्त्रवालों का है वही सत्य है, और 'तत्त्वं' पदों का जो एक लक्ष्यार्थ सच्चिदानंद रूप है, वही परमेश्वर है, इसी को ज्ञान कहते हैं, यही ज्ञान मुक्ति का हेतु है।

आठवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ ८ ॥

नवाँ अध्याय।

देहादि के साथ तादात्म्य करके देहादि में जो अहंबुद्धि इसी को अज्ञान कहते हैं। यह विचारो कि आत्मा तो शुद्ध १, परिपूर्ण २, सत्य ३, चैतन्य ४, आनंद ५, अखंड ६, अज ७, अमर ८, एक रस ९, और भी बहुत विशेषण हैं। और अशुद्ध देह १, परिच्छिन्न २, असत्य ३, जड़ ४, दुःखरूप ५, एकदेशी ६, जन्मवाला ७, नाशवाला ८, नित्य एक रस नहीं रहता ९, आत्मा की और देह की जो एकता देखते हैं इससे परे और क्या अज्ञान होगा। इस अज्ञान का कारण आसुरी सम्पत् है वही दिखलाते हैं—

दम्भ, दर्प, अहंकार, अपवित्र, अभिमान, ईश्वर को न मानना, क्रोध, कठोरता, मूर्खता, धर्म की प्रवृत्ति को न जानना, अधर्म की निवृत्ति को न जानना, असत्य बोलना, जगत् को अनीश्वर कहना, बड़ी-बड़ी कामनाएँ मन में रखनी जो कभी पूर्ण न हों, छोटे-छोटे आग्रह करके सज्जनों से वैर करना, गुणवानों में दोष

निकालना, बुद्धि तमोगुणी होनी, अर्थात् हमने कथा कही थी उससे हमारी क्षति हुई, शास्त्रवालों को पाखंडी कहना, चिन्ता ऐसी ऐसी करनी जिनका प्रलय पर्यंत ठिकाना न लगे, निश्चय यह रखना कि जो हम खा लेवेंगे या वस्त्र आदि पहिन लेवेंगे अथवा स्त्रियों के साथ आनंद भोग कर लेंगे, यही मुख्य है। नट बंदरवालों को देना कभी किसी साधु ब्राह्मण को जो देता, तो दंभ अहंकार करके और उनका तिरस्कार करके, हजारों आशारूपी फाँसियों में बँधे रहना, अन्याय करके रुपया आदि संचय करना, यह मुझको प्राप्त है। जो प्राप्त करूँगा, तो मेरी बराबर और कौन है। धन हमारे बहुत, कुटुंब हमारे बहुत, ऐसे-ऐसे अवगुण आसुरी सम्पत्वालों के श्रीभगवान् ने कहे। फिर कहा कि ऐसे पुरुषों की मुक्ति तो दूर है, मुक्ति का मार्ग भी उनको नहीं मिलेगा। ये पुरुष जगत् के भ्रष्ट करनेवाले हैं, ऐसों को हम पशु की योनियों में फेंकेंगे। वारंवार सर्प, बिच्छू, कीट, शूकर, कूकर आदि योनियों में जन्म लेते रहेंगे। फिर कहा; काम, क्रोध, लोभ, ये तीन नरक के द्वारे हैं। आत्मा को मूढ योनियों में प्राप्त करनेवाले हैं, उनको तो अवश्य ही त्याग करना चाहिये। प्रथम उनको त्याग करके जो पीछे मुक्ति में प्रयत्न करेगा, तब सिद्ध होगा।

अर्जुन ने श्रीकृष्ण महाराज से प्रश्न किया कि हे महाराज! किस करके प्रेरा हुआ यह पुरुष पाप को करता है इच्छा नहीं भी करता, परंतु ऐसा प्रतीत होता है, जैसा कोई बल करके पाप में जोड़ दे।

श्रीभगवान् ने कहा, हे अर्जुन! जो तुमने पूछा कि पाप करने में क्या हेतु है, सो सुनो, काम हेतु है। कामना होने से क्रोध होता है। रजोगुण से इसकी उत्पत्ति है। रजोगुण के जय करने

से इसका भी जय होजाता है, अनंत है भोजन जिसका, बड़ा पापी मोक्षमार्ग का वैरी काम को जानो । जैसे धूप ने अग्नि को, मल ने दर्पण को जेर ने गर्भ को ढक रक्खा है, ऐसे काम ने विवेक को ढक रक्खा है । प्राकृतियों को तो यह काम भोग के समय मित्र सा प्रतीत होता है, ज्ञानी को तो भोग के समय भी दोषदृष्टि होने से वैरी दीखता है । कितना ही भोग भोगो, कभी तृप्ति न हो और दूनी अग्नि लगे । इसके जय का उपाय यह है—यह काम इन्द्रिय, मन और बुद्धि में रहता है, क्योंकि विषय को देखा-सुना, संकल्प-विकल्प किया, निश्चय किया, फिर काम का आविर्भाव होजाता है, सो काम विवेक का आवरण करके आत्मा को मोहता है इसलिये यावत् इन्द्रिय का विषय के साथ संबंध नहीं हुआ । प्रथम मोह से विषयों में दोष दृष्टि करके इन्द्रियों को रोकना, फिर इन्द्रिय नहीं रुक सकती । देह, इन्द्रिय मन और बुद्धि से परे जो आत्मा उसको आश्रय करके इस पापी काम को मारा । जैसे यह परमेश्वर ने अर्जुन को उपदेश किया, ऐसे ही किसी गुरु ने शिष्य को उपदेश किया कि हे शिष्य ! ये काम क्रोधादि प्रथम तो ज्ञान की सिद्धि के लिये त्यागने योग्य हैं, और ज्ञान हुए पीछे जीवन्मुक्ति के लिये त्यागने योग्य हैं । शिष्य कहता है, महाराज ! जीवन्मुक्ति मुझको मत हो, देहपात के पीछे मैं विदेह होकर मुक्त होजाऊँगा । गुरु कहते हैं जो तुमने यहाँ के तुच्छ पदार्थों के भोगने के लिये जीवन्मुक्ति का अंगीकार नहीं किया, तो निश्चय होता है कि स्वर्गादि पदार्थों के भोगने के लिये विदेह मुक्ति का भी अंगीकार न करोगे, इस हेतु से प्रतीत होता है कि तुम स्वर्गमात्र से आप को कृतार्थ जानोगे, फिर निश्चय आपका जन्म होवेगा । जो कभी तुमने अपने मन में यह माना हो कि स्वर्ग-क्षय अतिशय,

साहस और पतन इन तीनें दोषों करके त्यागना योग्य है। विचारो कि इन तुच्छ पदार्थों में जो अनेक दोष करके युक्त हैं, श्रीभगवान् भी कहते हैं, ये शब्द स्त्री आदि भोग, निश्चय दुःख के कारण हैं, उनके नाश और अप्राप्ति में जो दुःख है, सो तो प्रसिद्ध है, परंतु प्राप्तिकाल में भी स्पर्द्धा, निंदा, भयादि दोषों करके युक्त दुःखरूप हैं। फिर उनमें दोष-दृष्टि करके क्यों नहीं त्यागते। जब ये तुच्छ पदार्थ न त्यागे गए, स्वर्गादि के पदार्थों को कैसे त्यागोगे और यह तुम्हारा इच्छापूर्वक आचरण अनिष्ट है। इस बात में श्रीसुरेश्वराचार्यजी के वाक्य को प्रमाण देते हैं। जाना है ब्रह्मतत्त्व जिसने, उसका जो इच्छापूर्वक आचरण हुआ तो कूकर, पशु आदि, और ज्ञानियों में क्या भेद हुआ। जब धर्म-कर्म शास्त्र की आज्ञा को न मानकर इच्छापूर्वक आचरण किया, फिर अशुचि भोजन में किस प्रकार दोष प्रतीत होगा। शिष्य कहता है, महाराज! मुझको इतने ही मात्र से अनिष्ट सूचन किया, गुरु उपहास-पूर्वक कहते हैं, ज्ञान से प्रथम तो तुमको मनमात्र के दोषों करके क्लेश था अब समस्त लोगों की निंदा सहनी अंगीकार करते हो; आपके बोध की क्या स्तुति होसके, आपके बोध का जो वैभव है, सो

---

१. दिन दिन प्रति अपना किया हुआ पुण्य क्षय होता रहता है इसको तो क्षय दोष कहते हैं। और जैसे इस लोक में चक्रवर्त्ती राजा से लगाकर कंगाल पर्यंत तारतम्यता है, ऐसे स्वर्ग में विमान, ऐश्वर्यादि की तारतम्यता है। अपने से अधिक विमानवाले को देखकर मन में अतिशय रहता, यह दूसरा दोष है। और जब समस्त पुण्य नाश होता है, तब उसके गले की माला सूख जाती है, वह तो अपने आप वहाँ से नीचे गिरना नहीं चाहता, परन्तु वही स्त्री, जिसके साथ विहार करता था, टाँग पकड़कर उलटा डाल दिया करती है, तीसरा यह साहस पतन दोष है॥

आश्चर्य है। ऐसा बोध तो हमको भी नहीं हुआ, यह बात लोक में प्रसिद्ध है। जो काले कंबल पर और भी छींट स्याही की पड़ जावे, तो कुछ नहीं प्रतीत होती, परंतु श्वेत चादर पर जो एक छींट भी और रंग की पड़ जावे, तो वह भी दूर से चमकती है। ऐसे ज्ञानी का जो किञ्चित् भी अन्यथा आचरण प्रतीत हो, तो भी मूर्ख उस बात को बढ़ाकर कुछ कुछ बकने लगते हैं, यह तो उनको विचार ही नहीं कि जो विधि-निषेध-व्यवहार है, यह गुणों का कार्य है, द्रष्टा उनका असंग है, और जो स्वसंवेद्य लक्षण ज्ञानी के हैं, उनको मूर्ख क्या जानेंगे। केवल जड़भरतादि के दृष्टांत दे देकर निंदा करेंगे, और जो उनको कहो बोध है कि ये तीनों गुण सदा विदेह मुक्त से प्रथम सबमें देवता से लगाकर पशु पर्यंत रहते हैं, किसी के थोड़े, किसी के बहुत, और यह सब देखना—सोना, खाना, पीना आदि अन्तःकरण का धर्म है। अंतःकरण माया का कार्य होने से मिथ्या है। कोई-कोई तो ऐसा जानते हैं कि अंतरंग साधन मुख्य है, बहुत तो बहिरंग साधनों को प्रमाण दे देकर निन्दा-स्तुति करते हैं।

शिष्य कहता है महाराज! फिर क्या करना चाहिये। गुरु कहते हैं करना क्या चाहिये—यह करना चाहिये, जो शूकर और कूकर की बराबरी है, इसको वमनवत् त्याग दो, तुम तो विचारवान हो, जितने अंतःकरणगत दोष हैं, सबका संग त्याग करके, देवता की बराबरी अंगीकार करो। तुम इन मनुष्यों करके देवता के समान पूजने के योग्य हो। काम क्रोधादि में जो जो दोष और दुःख हैं, सब मोक्ष-शास्त्र में प्रसिद्ध हैं, वहाँ से तलाश करके दोष-दृष्टि द्वारा कामनादि का त्याग करके जीवन्मुक्ति संपादन करो।

शिष्य कहता है, महाराज! मैंने अंगीकार किया। कामादि का

तो त्याग करूँगा, परंतु मनोराज्य करने में तो मेरी क्षति नहीं।

गुरु कहते हैं, मनोराज्य को समस्त दोषों का बीज होने से श्रीभगवान् ने क्षति कही है, उस अर्थ को घटाते हैं—

बैठे-बैठे मनोराज्य हुआ, अमुक पदार्थ में अर्थात् स्त्रियादि में यह गुण है, उस गुण को ध्यान करते-करते उस पदार्थ में सूक्ष्म संयोग होगया। संग होने के पीछे फिर अधिक कामना इस वस्तु की होगई। कामनारूपी जो अग्नि उसकी शान्ति के लिये किसी के पास गये, कहा हमको आवश्यकता है, उन्होंने न दी, तब क्रोध उत्पन्न हुआ, अब अपने दोष को तो विचारते नहीं कि यह मेरे मनोराज्य ने अनर्थ किया है, उसमें दोष निकालकर कहते हैं, देखो कैसे पापी अधर्मात्मा जीव हैं, साधु-ब्राह्मण की आज्ञा नहीं करते, क्या धन छाती पर धरके ले जावेंगे, और अनेक कहने न कहने के योग्य शब्दों को कहते हैं, और जो मन में ताप होता है, उसके तो आप साक्षी हैं, फिर क्रोध से सम्मोह अर्थात् कार्य-अकार्य के विवेक का अभाव होगया, फिर जो शास्त्र गुरु से सुना, सब भूल गये, फिर चेतना रूपी बुद्धि का नाश होगया, अर्थात् फिर भी होशियार होजावें यह बुद्धि न रही, फिर अपने पुरुषार्थ से भ्रष्ट होगये विचारो, मनोराज्य ने कैसा अनर्थ किया, जो मनोराज्य होकर मन में कामना आई थी, तो उसमें प्रवृत्त न होना था। प्रवृत्त भी हुए थे, तो उनके न देने में जो अपमान हुआ था, उसको सह जाना था, उनको कुछ यद्वा-तद्वा न कहना था। जो उस समय इनकार भी कर दिया था अथवा दुर्वाक्य भी कह दिया था, तो फिर सत्त्वगुणी वृत्ति में काम आते, जो कुछ वे दाता भी थे आगे को जो उनसे काम निकलता सो सब नष्ट होगया, उनको तो क्रोध में आकर यद्वा-तद्वा कह बैठे, फिर यह

सुख न रहा कि कभी उनके समीप ही जा बैठें। और जो कभी उनके सत्त्वगुणी वृत्ति का विशेष उदय हो, और बहुत दान करें, तो आपको कुछ नहीं मिल सकता, सारी अवस्था को तो उनसे मुरव्वत तोड़ बैठे, और जिन्होंने सुना, उन्होंने भी अपने आपसे मन फेर लिया, वारंवार विचारो; मनोराज्य बड़ा अनर्थ करता है इसलिये मनोराज्य का भी जय करो, मनोराज्य कामना का जय करने से ज्ञान द्वारा मुक्त होजाता है।

नवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ ९ ॥

दसवाँ अध्याय

प्रथम थोड़े से साधन जीवन्मुक्ति के लिये लिख भी आये हैं, अब और भी सुनो जिनके अनुष्ठान करने से कामादि का जय हो जाता है। साधक को तो अभ्यास करने से सिद्ध होते हैं, सिद्ध में स्वभाव से रहते हैं। जीवन्मुक्त के पाँच प्रयोजन हैं, प्रथम उनको लिखते हैं।

१ ज्ञानरक्षा, २ तप, ३ विसम्वादि का अभाव, ४ दुःखों की निवृत्ति, ५ सुख का आविर्भाव, इनका अर्थ यह है कि जीवन्मुक्त के अभ्यास करने से संशय-विपर्यय का उदय नहीं होता, शुक राघव अस्मदादिवत् अकृत उपासक को कदाचित् संशयादि के उदय होने के भय से अवश्य जीवन्मुक्त का अभ्यास करना योग्य है।

श्रीभगवान् कहते हैं, जिसके संशय है, वह नाश होता है। संशयादि का उदय न होना—ज्ञानरक्षा, चित्त की एकाग्रता तप है, सब धर्मों से श्रेष्ठ है, ज्ञानी का तप लोकसंग्रह के अर्थ है। श्रीभगवान् कहते हैं—श्रेष्ठ पुरुष जो-जो आचरण करता है, सो-सो और भी आचरण करते हैं। संग्रह भले तीन प्रकार के हैं—शिष्य १ भक्त २, तटस्थ ३ ।

शिष्य तो गुरु के शास्त्रविहित आचरण को देख-देख अधिक श्रद्धावान् होकर फिर उनके वाक्य में विश्वास करके मुक्त होता है १, और भक्त उनकी पूजादि करके वांछित फल को प्राप्त होता है । विभूति की कामनावाला ज्ञानी का पूजन करे, जिस लोक की मन से भावना करेगा, और जो-जो कामना चाहेगा, उसी उस लोक और उसी उस कामना को प्राप्त होगा, यह श्रुति का अर्थ है ।

स्मृति का भी अर्थ सुनो, जो एक ब्रह्म का जाननेवाला भोजन करे तो समस्त जगत् तृप्त होता है, इसलिये जो कुछ देने योग्य है सो ब्रह्मवित् को देना चाहिये ।

तटस्थ दो प्रकार का है—सन्मार्गी १, असन्मार्गी २ ।

सन्मार्गी तो ज्ञानी के आचरण को देख-देख अपने आप सदाचार करके मुक्त होगा, असन्मार्गी जीवन्मुक्ति की दृष्टि करके सारे पापों से मुक्त होगा । यहाँ स्मृति प्रमाण है—जिसकी अनुभवपर्यंत बुद्धि तत्त्व के विषय प्रवृत्त है, उसके दृष्टिगोचर जो होगा, अर्थात् कृपादृष्टि से जिसको वे देखेंगे, वह सारे पापों से छूट जावेगा । जो ज्ञानी को वाणी आदि करके दुःख देंगे, मन करके द्वेष करेंगे, वे ज्ञानी के पाप को ग्रहण करेंगे, यहाँ श्रुति प्रमाण है, सुहृद ज्ञानी के पुण्य द्वेषी ज्ञानी के पाप को ग्रहण करेंगे, यह श्रुति का अर्थ है २ । जिस समय ज्ञानी की बहिर्मुख वृत्ति हो, उस समय उसको कोई दुर्वाक्य बोले उसको सुनकर अथवा वृथा कोई मार भी दे, चित्त की वृत्ति में राग द्वेष का उदय न होना, इसका नाम विसंवाद का अभाव है ३ । संसार के व्यवहार में धन के संचयादि में अनेक प्रकार के दुःख, और मुक्ति के लिये श्रवणादि में अनेक दुःख हैं । जीवन्मुक्त के सब दुःख नाश होजाते हैं । यदि आत्मा को जानता है कि मैं यह हूँ, फिर किसकी इच्छा करता

हुआ, और किस कामना के लिये शरीर को दुःख दे, यह श्रुति का अर्थ है ४ ।

समाधि करके दूर कर दिये हैं चित्त के मल जिन्होंने, और आत्मा में प्रवेश किया है चित्त जिन्होंने, उनको जो सुख होता है, उसको वाणी नहीं कह सकती अपने अनुभव करके जाना जाता है, यह श्रुति का अर्थ है ।

जैसे कोई १६ वर्ष की स्त्री से १० । ११ वर्ष की लड़की पूछे कि तू सुसराल में गई थी, तुझको पति के संग में क्या आनंद हुआ, जैसे वह उस आनंद को अनुभव करती हुई उनको कम समझ जानकर, हँसकर चुप हो जाती है, ऐसे ज्ञानी ब्रह्मानंद को अनुभव करते हुये, औरों को कम समझ जानकर, मौन रहते हैं, यह सुखाविर्भाव पाँचवाँ प्रयोजन जीवन्मुक्ति का कहा ५ ।

जीवन्मुक्ति के लिये जो अष्टांग-योग कहते हैं, उसको भी थोड़ा सा सुनो ।

योग के आठ अंग हैं ।

यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि और इनका अर्थ पातंजल-शास्त्र में भले प्रकार निश्चय हो सकता है, यहाँ इसलिये नहीं लिखा कि इस योग करने की सम्प्रदाय लोप होरही है, विना गुरु के वह योग सिद्ध नहीं होसकता जिसको यह योग करना हो, और कोई गुरु मिले, तो वहाँ से उनका अर्थ निश्चय करे, परंतु और प्रकार भी उनका अर्थ करते हैं । परिपक्क हैं चित्त जिनका, वे इनका ऐसा अर्थ निश्चय करें, देहादि में विरक्ति यम १, स्वात्मतत्त्व में अनुरक्ति नियम २, जैसे बैठे, चलते, लेटे, सुखपूर्वक निरंतर ब्रह्म का

चिंतवन होता रहे, वही आसन है । सुख-पद्मादि आसन मंद के लिये हैं ३ । प्राण के चलते हुये अपने पास सदा योग तत्र होता रहे । 'सोऽहम्' 'सोऽहम्' 'सोऽहम्' इसका जो अर्थ उसमें चित्त को स्थित करना अर्थात् यही निश्चय रखना कि मैं ब्रह्म हूँ ४ । श्रोत्रादि इन्द्रियों को शब्दादि विषयों से रोकना प्रत्याहार ५ । बुद्धि को विषयों से विमुख करना धारणा ६ । जहाँ-जहाँ दृष्टि जावे, वहीं-वहीं ब्रह्म देखना । दृष्टि को ब्रह्ममयी करके सब जगत् को ब्रह्ममय देखना, सो दृष्टि श्रेष्ठ है । अथवा द्रष्टा, दर्शन, दृश्य, इनका जहाँ विराम हो, वहीं दृष्टि करनी, नासाग्र दृष्टि बालकों के लिये है ७ । मैं असंग, सच्चिदानंद, परिपूर्ण, निरवयव, एकरस हूँ, इस प्रकार चित्त का समाधान करना समाधि, सो दो प्रकार की है—सविकल्प १, निर्विकल्प २, त्रिपुटी-सहित सविकल्प १, त्रिपुटी-रहित निर्विकल्प २ ।

निर्विकल्प समाधि करने के समय चार विघ्न होते हैं—लय १, निद्रा आ जानी विक्षेप २, बारंबार विषयों का अनुसंधान होना कषाय ३, चित्त का रागादि से तो छूट जाना, परंतु स्वरूप में न पहुँचना, बीच की वृत्ति का नाम कषाय है, इसीको स्तब्धीभाव कहते हैं, रसास्वाद ४ । समाधि के आरम्भ समय सविकल्प का आनंद होना कि मैं ऐसा आनन्दरूप परिपूर्ण हूँ, यह चिंतवन होना, इसको रसास्वाद कहते हैं ।

प्राणायाम आसन विषयों में दोषदृष्टि आदि करके लय विक्षेपादि का जय करना चाहिये ।

वशिष्ठजी कहते हैं कि चित्तनाश करने के दो मार्ग हैं ज्ञान १, योग २, ये दोनों मार्ग भगवान् ने भी गीता-शास्त्र में कहे हैं । देहादि से परे आत्मा को जानना अर्थात् असंग, नित्यमुक्त अपने

को निश्चय करना, यह ज्ञान है। और चित्त की वृत्ति का निरोध करना इसका नाम योग है।

चित्तवृत्ति के निरोध का प्रचार चार प्रकार से वशिष्ठजी ने कहा है—सदा वेदांत-शास्त्र को पढ़ना-सुनना विचारना १, जो ब्रह्मनिष्ठ साधु हैं, उनका संग करना २, समस्त वासना का त्याग करना ३, अष्टांग योग करना ४।

प्रथम साधन उत्तम अधिकारी के लिये हैं, जो वहां चित्त का निरोध न हो, तो ये तीन उत्तरोत्तर हैं।

एवं जो चित्त के निरोध का प्रकार आत्मा संयमयोग नाम करके श्रीभगवान् ने गीताशास्त्र में कहा है, उसका भी अर्थ संक्षेप करके लिखते हैं।

योगी मन को समाहित करके अकेला एकांत में बैठकर, भले प्रकार जीते हैं, वश किये हैं मन इन्द्रियादि जिसने, निराकांक्ष होकर, शरीरयात्रा के सिवाय भोजन वस्त्रादि सामग्री को त्याग करके, पवित्र देश में, शुद्ध भूमि में, अपना आसन बिछाकर, वह आसन बहुत नीचा और ऊँचा न हो। नीचे कुशा का आसन, उसपर मृगचर्म आदि, फिर ऊपर वस्त्र बिछाकर, मन को एकाग्र करके, वश करी है चित्त और इन्द्रियों की क्रिया जिसने सो उस पर बैठकर, चित्त की शान्ति के लिये अभ्यास करे।

चित्त के एकाग्र करने में देह की धारणा भी उपयोगी है, उसका धारण-प्रकार लिखते हैं। देह का जो मध्य-भाग है, उसको शिर, और ग्रीवा को सम निश्चय करके नासाग्र-दृष्टि होकर पूर्वादि को नहीं देखता हुआ, दूर होगया है भय जिसका, सो ब्रह्मचारी व्रत में स्थित होकर आत्मा में है चित्त जिसका, आत्मा ही में है परं पुरुषार्थ जिसके, इस प्रकार युक्त होकर बैठे।

श्रीभगवान् कहते हैं, जो इस प्रकार सदा मन को समाहित करता हुआ, निरोध हुआ है अंतः करण जिसका, सो परा शांति को प्राप्त होता है । बहुत खानेवाले, थोड़े खानेवाले को भी, बहुत सोनेवाले, बहुत जागनेवाले को भी योग सिद्ध नहीं होता । तात्पर्य यह है कि शास्त्र-विहित सोना, जागना, बोलना, चलना, भोजनादि क्रिया जो नियम करके करेगा, उसको दुःखों का नाश करनेवाला यह योग सिद्ध होता है ।

किस काल में योग सिद्ध होता है, इस अपेक्षा में कहते हैं। जिस काल में वश किया हुआ चित्त आत्मा ही में निश्चय ठहरता है, सब कामनाएँ जो इस लोक और परलोक की हैं, उनकी इच्छा नहीं करता, उस काल में जानो कि योग सिद्ध हुआ। जैसे दीवा बंद मकान में एकरस प्रकाशता है, हलता नहीं, ऐसे जीता है चित्त जिसने, उसका चित्त प्रकाशता और निष्कंपता करके ठहरता है। योग करके निरुद्ध हुआ चित्त, जिस अवस्था में संसार के विषयों में उपराम हो, और जिस अवस्था में शुद्ध मन करके आत्मा ही को देखे, आत्मा ही में तोष करे, उस अवस्था में निरतिशय सुख को अनुभव करता है, फिर उस अवस्था में स्थित हुआ, तत्त्व से नहीं चलता, उस सुख को लाभ करके, अपर जो ब्रह्मलोकादि के सुख, उनको अधिक नहीं जानता, उस अवस्था में स्थित हुआ बड़े भारी दुःख करके भी नहीं विचलता दुःख का प्रथम किंचित् संयोगमात्र करके समस्त दुःख और विषयसंबंधी दुःखों का वियोग है, जिसमें उसी को योग जानना, सो योग आचार्य शास्त्र में निश्चय करके अवश्य अभ्यास करना चाहिये । दुःखबुद्धि करके प्रयत्न की जो शिथिलता, उसको त्यागना चाहिये । टिट्टी के पुरुषार्थ को स्मरण करना योग्य है ।

जैसे वह संकल्प रखता है कि मैं कुशा के अग्रभाग में जितना जल ठहरता है, कुशा से इतना ही जल उठाकर समुद्र को सुखाऊँगा, ऐसाही चित्त के निरोध करने का संकल्प रक्खे। संकल्प से आविर्भाव है जिनका, ऐसे योग के प्रतिकूल जो कामना, उन सबको त्याग करके और मन करके सब तरफ़ से इन्द्रिय-ग्राम को रोककर, धैर्य करके, शनैः-शनैः अभ्यास-क्रम करके उपराम हो, सहसा एक बार ही जो पूर्वावस्था में खाना, सोना, बोलना, बैठना आदि था, उन सबका त्याग करे। आत्मा में भले प्रकार मन को स्थित करके कुछ चिंतवन न करे। पूर्वाभ्यस्त रजोगुण के वश में मन जो फिर चले, तो प्रत्याहार करके अर्थात् जिस-जिस विषय में मन जावे, वहीं-वहीं से रोककर मन को वश करे अर्थात् आत्मा में स्थिर करे। इस प्रकार अभ्यास करते-करते रजोगुण का क्षय होने से योग-सुख प्राप्त हो जाता है। शान्त होगया है रजोगुण जिसका, इसी हेतु से शान्त है मन जिसका, प्राप्त हुआ है ब्रह्मतत्त्व जिसको, उसको समाधि-जन्य सुख अपने आप प्राप्त होता है। ऐसे सदा अभ्यास करते हुए योगी, दूर हो गये हैं पाप जिसके, वह अनायास सुखपूर्वक ब्रह्मतत्त्व को प्राप्त होता है, फिर कृतार्थ हो जाता है। वह योगी सब भूतों में अपने आत्मा को और सब भूतों को अपने आत्मा के विषय देखता है। सारे समदृष्टि हैं जिसके, उसको श्रीभगवान् कहते हैं कि जो मुझको सर्वत्र देखता है, उसको मैं सदा अपरोक्ष हूँ। वह मुझसे पृथक् नहीं, जो मुझको इस प्रकार जानता है, जैसे उसकी इच्छा हो, कर्म त्याग करके तो याज्ञवल्क्यवत् कर्म करता हुआ, जनकवत् निषेध कर्म करता हुआ, दत्तात्रेयवत् वर तो निश्चय मुक्त होगा, वह सर्व प्रकार मेरे विषय वर्त्तता है, मुझसे

पृथक् कुछ नहीं जानता । जैसे आप को दुःख-सुख होते हैं, दूसरे के दुर्वाक्य बोलने में दुःख, स्तुति करने में सुख, ऐसे ही अपनी उपमा करके सबको सम देखे, किसी को दुःख न दे, ऐसा पुरुष मुझको परम सम्मत है । यह योग का लक्षण श्रीभगवान् ने अर्जुन को कहा । अर्जुन इस योग को असंभव मानते हुए बोले—हे परमेश्वर ! समता करके अर्थात् मन की दो गति—लय-विक्षेप, उनको जय करके केवल आत्माकार अवस्थान करके, जो-जो योग आपने कहा, इस योग की दीर्घकाल जो स्थिति उसको नहीं देखता हूँ । किस हेतु से मन को चंचल होने से, हे कृष्णचन्द्र ! मन चंचल है, स्वभाव ही से चपल है, प्रमथन-शीलवाला, इन्द्रियों को क्षोभ करनेवाला और बलवाला है, विचार करके भी जीतने के योग्य नहीं प्रतीत होता, विषय-वासना करके अनादि का विषयों के साथ बँधा हुआ है, इस हेतु से दुर्भेद है । जैसे महाराज ! आकाश में पवन चलता है, उसको घटादि में रोकना कठिन है, ऐसे मन का निग्रह कठिन जानता हूँ ।

वशिष्ठजी भी कहते हैं—समुद्र का पान कर जाना, सुमेरु को उखाड़ लेना आदि जो बहुत कठिन प्रतीत होते हैं, सो हो जाते हैं, परंतु मन का निग्रह कठिन है, इस बात को अंगीकार करके मन के निग्रह का उपाय दिखाते हुए श्रीभगवान् बोलते भये, हे अर्जुन ! जो तुमने कहा सो सत्य है, मन ऐसा ही है—परंतु मन की दो गतियाँ हैं—लय १, विक्षेप २, सो लय को तो अभ्यास करके अर्थात् आत्माकार प्रत्ययवृत्ति करके जय करना, और विक्षेप को वैराग्य करके अर्थात् विषयों में दोष-दृष्टि करके जय करना, इन दो उपायों से निश्चय मन का निग्रह होजाता है । अन्तःकरण की वृत्तियों का सूक्ष्म हो जाना, इसी का नाम मनो-

निग्रह है। जिन्होंने देहादि नहीं वश किये हैं, उनको तो यह योग कठिन है। जिन्होंने अभ्यास और वैराग्य करके मन को वश कर लिया है, उनको यह योग इसी उपाय करके सहज है।

अर्जुन पूछते हैं कि हे महाराज! प्रथम तो कोई पुरुष इस योग में श्रद्धा करके प्रवृत्त हुआ; परंतु पीछे उसने भले प्रकार प्रयत्न न किया, शिथिलाभ्यास रहा, योग से चित्त चलकर-विषय में प्रवृत्त होगया, तात्पर्य यह कि मंद वैराग्य होगया, अथवा अभ्यास करते-करते बीच में देह का पात होगया, वह पुरुष योग का फल जो ज्ञान उसको न प्राप्त होकर किस गति को प्राप्त हो, क्योंकि कर्मों के फल को परमेश्वर में अर्पण करने से अथवा कर्मों का अनुष्ठान न करने से स्वर्गादि की प्राप्तिरूप जो फल, सो तो उसको होंगे नहीं, ज्ञान के न होने से मुक्त न होगा, दोनों तरफ से भ्रष्ट हुआ। हे महाराज! कहीं छिन्नाभ्रवत् योगही में नाश हो जाता है। हे परमेश्वर! आप सर्वज्ञ हो, इसका उत्तर दे सकते हो।

श्रीभगवान् बोलते भये, हे अर्जुन! इस लोक में तो उसका जो दोनों मार्ग से भ्रष्ट होना है, और परलोक में जो नरक की प्राप्ति, ये दोनों उसके नहीं, क्योंकि अच्छा कर्म करनेवाला कोई भी दुर्गति को नहीं प्राप्त होता, और जो श्रद्धा करके योग में प्रवृत्त होने से शुभकारी है, उसकी फिर क्या गति होती है, इस अपेक्षा में कहते हैं—

ब्रह्मलोकादि जो पुण्यकारी पुरुषों के भोगस्थान उनको प्राप्त होकर और बहुत दिन वहाँ के भले प्रकार भोग भोग कर जो इस लोक में पवित्र धनवाले पुरुष हैं, उनके कुल में वह योग-भ्रष्ट जन्म लेता है। यह गति तो बड़े अभ्यास करनेवाले का है,

और जिसके ज्ञान होने में कुछ थोड़ी देर रही थी, वह बुद्धिमान्, ब्रह्मनिष्ठ योगियों के कुल में जन्म लेता है । इस लोक में मुक्ति का हेतु होने से ऐसा जन्म होना बड़ा दुर्लभ है । वह जो पूर्व देह में ब्रह्म-विषयिणी बुद्धि करके योग करता था, फिर वह दोनों कुलों में से किसी कुल में उसी योग को प्राप्त होजाता है, फिर अधिक मुक्ति के लिये प्रयत्न करता है । जो पराये वश भी हो, तो भी पूर्वाभ्यास उसको विषयों से हटाकर ब्रह्मनिष्ठ कर देता है, इस अर्थ को कैमुतिक-न्याय करके दृढ़ करते हैं—

ज्ञान की इच्छावाला जो नर कुछ ज्ञान को प्राप्त न हुआ था, और पाप के वश से योग-भ्रष्ट भी हुआ, परंतु फिर काल पाकर जिसकी यह गति, कि शब्दब्रह्म को उल्लंघन कर वर्त्तता है । तात्पर्य यह कि वेदों के प्रतिपादन किये जो स्वर्गादि फल उनका तिरस्कार करके उनसे अधिक फल जो ब्रह्मानंद उसको अनुभव करता हुआ अपने आपको कृतकृत्य जानता है, और जन्म-जन्म में प्रयत्न करके दूर किये हैं पाप जिन्होंने, फिर पिछले जन्म में सिद्ध होकर, वे उस गति को अर्थात् ब्रह्मानंद को प्राप्त होवें, तो इसमें क्या कहना है ।

अब और प्रकार के विषयों में दोष-दृष्टि-पूर्वक जीवन्मुक्ति के साधन सुनो । संसारी लोक दो पदार्थों को विशेष कहते हैं—धन १, स्त्री २ । प्रसिद्ध है कि चोरी, हिंसा, झूठ, दम्भ, काम, क्रोध, गर्व, मद, भेद, वैर, अविश्वास, स्पर्द्धा, असूया, निन्दा, इत्यादि अनेक अनर्थ करके धन सिद्ध होता है, और उसके कमाने में परदेश में रहना, नीचों की टहल करनी, पराधीन रहना आदि, और रक्षा करने में चोर, राजा आदि का भय, और व्यय करने में उनके कम होने का दुःख, और नाश होने में जो दुःख, उसका लिखना

क्या है, सब जानते हैं । तात्पर्य यह कि जिसके आदि, मध्य और अंत में क्लेश ही क्लेश हैं, ऐसे दुःखों के कारण धन को धिक्कार है, और जो प्राकृत जीव धन से स्त्री, मदिरा, मांस, द्यूत, राग, द्वेष, अभिमान, अहंकारादि ऐसे-ऐसे यहाँ अनर्थ करके नरक का सामान करते हैं, वह व्यवस्था कहाँ तक लिखें ।

तात्पर्य यह है कि जितने पाप हैं, सब धन से होते हैं। यह धन पापी, विद्वान् और विचारवान् से भी अनर्थ करा देता है, इस बात की सिद्धि में श्रुति, स्मृति, इतिहास, युक्ति आदि बहुत प्रमाण हैं । इसके त्याग का अधिक माहात्म्य शास्त्र में लिखा है।

संसारसमुद्र में कान्ता और कांचन दो आवर्त हैं, तीनों भुवन इनमें भ्रमण कर रहे हैं । जो इन दोनों से विरक्त है, वह मनुष्यादि नहीं, परमेश्वर है ।

स्त्री की स्तुति सुनो । चांडाल के घर के बराबर स्त्री है । चांडाल के घर में मल, मूत्र, मांस आदि पड़े रहते हैं, द्वारे में चिह्न के लिये अस्थि लगे रहते हैं । अस्थि के खम्भ चर्म की रज्जु से बँधे रहते हैं । मकान के ऊपर चर्म पड़े रहते हैं, जो उसके मकान की यह व्यवस्था है, तो विचारो कि उस मकान की जो मोरी, जिसमें उस मकान का मल जाता है, उसकी क्या उपमा देनी चाहिये । विचारो, स्त्री में ये सब वस्तुयें हैं वा नहीं । स्त्री का शरीर मकान, उसके भीतर मलमूत्रादि वस्तु का होना प्रसिद्ध है । मुख द्वारवत्, दाँत अस्थिवत्, पैर और हस्त आदि में अस्थियाँ खम्भ के समान नाड़ियों से बँधी हुई हैं । शरीर के ऊपर चर्म है वा कुछ और है । मोरी के समान उस शरीर में मल-मूत्र-त्याग करने के रास्ते हैं । देखो उनको ऊपर से देख-देख यह जीव बिना विचार के कैसा आनंदित होता है । वृथा नरकवत् मोरी में डूबना

है। विचारो, इसके सिवाय और क्या नरक होगा। जो यह कहो कि हमको तो ये दोष नहीं फुरते, बेशक हम भी जानते हैं कि ऐसे जीव, जिनको विष्ठा मुरदे के मांस में दोष नहीं फुरते, उनके लिये अनेक प्रयत्न करते हैं, प्राप्ति के समय अपने को कृत-कृत्य मानते हैं। हमारी दृष्टि में वे भी तो जीव हैं, कुछ यह न समझना कि ऐसे शूकर और कूकर ही होते हैं, मनुष्य भी बहुत ऐसे होते हैं। अब विचारो, मनुष्य-शरीर में और पशु में क्या भेद हुआ। हज़ारों जगह इन बातों का प्रसंग है इसलिये इस प्रसंग को बहुत क्या लिखें।

बुद्धिमान् जीवन्मुक्त की इच्छावाला इसी प्रकार सब पदार्थों में दोष-दृष्टि करके उनका संग न करे, और वही चांडाल के घर का दृष्टांत अपने शरीर में घटावे, अर्थात् चांडाल भी उस घर में यह अध्यास नहीं करता मैं घर हूँ, यह अध्यास है कि मेरा घर है ऐसे अध्यास करने से तो वह चांडाल है, और जो देह को ऐसा कहते हैं कि हम देह हैं, अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि वर्ण, ब्रह्मचारी आदि आश्रमी, पण्डित धनवाले हैं। विचारो, यह देह चांडाल के घर की बराबर है अथवा नहीं। जब देह को यों कहा मैं देह हूँ फिर वह कौन हुआ। तात्पर्य यह कि ऐसा विचार, देह में से अध्यास का त्याग करे। भ्रम से और पदार्थ में प्रतीत होना, इसको अध्यास कहते हैं।

वासना दो प्रकार की है—शुद्धा १, मलिन २। मुक्ति के लिए शास्त्र-विहित अनुष्ठान करने की, और श्रवणादि की वासना शुद्धा १। भोगों की वासना और संसार में प्रसिद्ध होने की वासना मलिन २। शुद्ध वासना मुक्ति की हेतु है। मलिन वासना जन्म की हेतु है। देहयात्रा के लिये भिक्षादि का जो प्रयत्न करना, यह ज्ञानी की वासना बंध का हेतु नहीं।

श्रीभगवान् कहते हैं कि जिसमें शरीर का निर्वाह होवे, वह कर्म करता हुआ पाप को नहीं प्राप्त होता। ज्ञानी को शरीर-यात्रा के सिवा और वासना का त्याग करना चाहिए। तीन वासनाएँ बहुत दुःख से त्यागी जाती हैं। देहवासना १, लोकवासना २, शास्त्रवासना ३। शरीर को बहुत उबटने, चंदनादि लगाकर चिकना-चाँदना रखना, और जो इच्छा रखनी कि यह शरीर सदा आरोग्य रहे यह देहवासना १। यह इच्छा रखनी कि सब लोग मुझको भला कहें, यह लोकवासना २। शास्त्रवासना दो प्रकार की है। एक तो बहुत पढ़ने-सुनने की इच्छा रखनी, अर्थात् जाने कि इस शास्त्र में क्या-क्या है। दूसरी जो कर्म जपादि करना, शास्त्र-विहित करना, यह इच्छा रखनी यह शास्त्र वासना ३। इन करके युक्त जो पुरुष, उसको ज्ञान भी भले प्रकार नहीं होता। तात्पर्य यह है कि तीनों वासनाएँ किसी की न पूर्ण हुईं और न होंगी। युक्ति से विचार देखो, वा गुरु-शास्त्र से निश्चय कर लो। और, ये जो दो प्रकार हैं, एक तो मनोनाश, और वासनाक्षय १, और दूसरा सदा वेदान्त का श्रवणादि करना २, इनका अविरोध सुनो।

जिसको संशय-विपर्यय करके रहित भले प्रकार ज्ञान हो गया है, उसको तो मनोनाश, वासना-क्षय मुख्य है, श्रवणादि गौण है। और जिसको भले प्रकार ज्ञान नहीं हुआ, संशय-विपर्यय है, उसको श्रवणादि मुख्य हैं। मनोनाश, वासना-क्षय गौण हैं।

मनोनाश और वासना-क्षय के साधन सुनो—वाशिष्ठ में लिखा है कि जो जागता हुआ सुषुप्तिवत् रहे, और जिसका जागना निर्वास हो, वह जीवन्मुक्त है।

श्रीभगवान् कहते हैं कि ज्ञानी सदा संतुष्ट रहे, मनादि को वश में रक्खे, मौन रहे, मौनी के तात्पर्य को कोई नहीं पा सकता, बहुत

लिखने से क्या प्रयोजन है। मौन में बहुत सुख और अनेक लाभ हैं, और मैं असंग हूँ, यह दृढ़ विश्वास रक्खे। आत्मा में अर्पित करी है मन-बुद्धि जिसने, जिससे लोग उद्वेग न करें, जो लोगों से उद्वेग न करे, सो भक्त मुझको प्यारा है। भक्त स्थितप्रज्ञ गुणातीत शब्द करके बहुत प्रकार श्रीभगवान् ने जीवन्मुक्त के लक्षण कहे हैं। निःस्पृही अर्थात् कोई नहीं आरम्भ जिसके, किसी को नमस्कार न करना, और न लेना, न किसी की निन्दा-स्तुति करना, समर्थ होते हुए मिथ्या जानकर कर्मों का त्याग कर देना, सर्पवत् बहुत पुरुषों से डरता रहे, नरकवत् सम्मान से डरता रहे, मुर्दे के समान स्त्रियों से डरता रहे, किसी स्त्री से बात न करे, पहली देखी हुई स्त्री का स्मरण न करे, स्त्रियों की कथा न कहे और न सुने, काष्ठ की और लिखी हुई को भी न देखे, उसको देवता ब्राह्मण कहते हैं। तात्पर्य यह कि उसे जीवन्मुक्त कहते हैं, ऐसे-ऐसे और भी वाक्य हैं।

हे युधिष्ठिर! मुक्ति में जाति कारण नहीं, शम दमादि गुण कारण हैं। ये शम दमादि गुण जो चाण्डाल के भी होंगे, तो देवता उसको ब्राह्मण कहते हैं। जैसे स्वप्न में प्रपञ्च प्रतीत होता है, ऐसे जाग्रत् प्रपञ्च का निश्चय करे।

जैसे बाजीगर के पदार्थों में वासना नहीं होती, ऐसे इन पदार्थों को जानकर वासना न करे। अपने को असंग जानने से, और संसार को मिथ्याभाव निश्चय करने से, शरीर को क्षणभंगुर जानने से, वासना का उदय नहीं होता, जिसका निर्वासन मन है उसको कर्म, और कर्म के फल स्वर्गादि समाधान करना, मन का जप करना आदि कुछ अपेक्षा नहीं, आत्मानन्द से पृथक् सब इन्द्रजालवत् हैं। जब ऐसा निश्चय हुआ, फिर मन

की वासना कहाँ जावे । जन्म, जरा, व्याधि और मृत्यु में दुःख ही दुःख है, फिर भी कुछ एक बार नहीं, बारंबार दुःख उनका अनुसंधान करते हुए वासना का उदय नहीं होता, कुसंग के त्यागने से भी वासना का उदय नहीं होता । ज्ञानी को किसी का संग न करना यही उनका मुक्तपद है, क्योंकि संग से समस्त दोप होते हैं । योगारूढ भी कुसंग करने से पतित हो जाता है । थोड़ी सिद्धिवाला जो कुसंग से पतित हो जावे, तो इसमें क्या कहना है ।

श्रीमद्भागवत में लिखा है कि स्त्री के संगी जो पुरुप हैं, मुक्ति की इच्छावाला उनका संग त्याग दे, इन्द्रियों को शब्दादि विषयों में प्रवृत्त न करे, विचरे तो अकेला विचरे । यदि एकांत में बैठकर चित्त को अनन्त भगवान् में जोड़े । जो सर्वथा संग न त्यागा जावे, तो साधुओं का संग करे । समस्त वासना का त्याग कर देना चाहिये, जो सब न त्यागी जावें, तो मुक्ति की वासना रक्खो । स्त्रियों का और स्त्रीसंगी पुरुषों का संग विद्वान् दूर से ही त्याग दे । एकान्त में बैठकर आलस्य को त्याग करके स्वरूप का चिन्तवन करे । स्त्री का संग साक्षात् ऐसा अनर्थ नहीं करता जैसे स्त्री के संगी का संग अनर्थ करता है । दृष्टांत यह है कि ज्येष्ठ के महीने में दिन भर धूप में चला जावे या खड़ा रहे, परंतु मरता नहीं । उस धूप करके तपा हुआ जो रेत उसमें बैठे रहने से निश्चय होता है कि मर जावे । इसी प्रकार सब पदार्थों की सन्निधि ऐसा अनर्थ नहीं करती, जैसा भोगी का संग अनर्थ करता है । महज्जनों का संग मुक्ति का हेतु है, कामियों का संग नरक का हेतु है, ऐसे-ऐसे साधन करके युक्त जीव अपरोक्ष ज्ञान द्वारा निश्चय-मुक्त हो जाता है ।

दस आदमी नदी उतरे, पार जाकर संख्या करी कि कोई इनमें से डूबा तो नहीं । जिसने संख्या करी, उसने आपको न गिना, फिर यह निश्चय कर लिया कि हम दस थे, एक डूब गया, वह आपको भूलकर रोने लगा। उस समय कोई और पुरुष वहाँ आगया, उसने पूछा कि तुम क्यों रोते हो ? कहा कि हम दस पार से उतरे थे, अब नव हैं, एक नदी में डूब गया । उसने जो अपने मन में संख्या करी, तो दस प्रत्यक्ष हैं । उसने कहा, तुम शोक मत करो, दसवाँ है । यह वाक्य सुनकर उसको निश्चय हुआ कि दसवाँ डूबा नहीं, कहीं इसने देखा है, अपने आपको दसवाँ निश्चय नहीं किया, इसको तो परोक्षज्ञान कहते हैं । फिर उसने कहा कि तू मेरे सामने संख्या कर, तब फिर उसने वैसे ही आपसे पृथक् नव को गिना, आपको न गिना। उसने कहा-दसवाँ तू है, तब उसने जाना कि वे संदेह दसवाँ मैं हूँ, इसको अपरोक्षज्ञान कहते हैं । ऐसे ही जिसने गुरु तथा शास्त्र से सुनकर यह निश्चय कर रक्खा है कि कोई ब्रह्म है, आपको निश्चय नहीं किया कि मैं ब्रह्म हूँ, इसको तो परोक्षज्ञान कहते हैं । यह परोक्षज्ञान गुरुशास्त्र-पूर्वक जिसको है, सो ज्ञान बुद्धिपूर्वक उसके किए हुए समस्त पापों को अग्निवत् भस्म कर देता है । जब यह निश्चय हुआ कि मैं ही ब्रह्म हूँ, इसको अपरोक्षज्ञान कहते हैं । यह अपरोक्षज्ञान गुरुशास्त्र-पूर्वक जिसको है, सो ज्ञान मूलाज्ञानसहित समस्त संसार को दूर कर देता है अर्थात् उसका जन्म नहीं होता, वह निरतिशय आनंद को प्राप्त होता है । इस प्रकार परमात्मा का स्वरूप चिन्तवन करने से तृप्ति तो नहीं होती, परंतु ग्रंथ के विस्तार के भय से अलं, परिपूर्ण, परमेश्वर को वारंवार नमस्कार है । कैसे वे परमेश्वर हैं, जिन्होंने गोपियों के वस्त्र हरे हैं, ऐसे जो

श्रीकृष्णचन्द्र महाराज उनमें प्रथम 'दांसोऽहम्' यह मेरी बुद्धि थी, सो महाराज ने अपने स्वभाव के अनुसार मेरा भेदाकार हर लिया अब 'सोऽहम्' यह शेप बुद्धि हो गई, बारंबार महाराज को इस हेतु से नमस्कार करता हूँ कि मुझको ऐसा निश्चय होता है कि व्यतीत जन्मों में महाराज को कभी नमस्कार नहीं किया, क्योंकि जो यह जन्म हुआ और इस जन्म में जो नमस्कार किया, तो आगे को जन्म नहीं होवेगा। स्थूलादि शरीरों के अभाव होने से नमस्कार कौन करेगा, इसीलिये पिछले अपराधों की क्षमा के लिये और आगे को नमस्कार न करना, इस कृतघ्नता महादोप दूर होने के लिये इसी जन्म में बारंबार नमस्कार करता हूँ।

श्रीकृष्णचन्द्राय नमोनमः ३।

जिसकी देवता में परम भक्ति और जैसी देवता में वैसे ही गुरु में है उस आत्मा को कहे हुए ये अर्थ प्रकाश होंगे, अन्य को नहीं होंगे यह श्रुति का अर्थ है।

श्रीमत्परमहंस परिव्राट् स्वामी मलूकगिरिजी महाराज के चरणकमलों के पूजनेवाले मुझ आनन्दगिरि ने यह 'आनन्दामृत-वर्षिणी'—नामक ग्रंथ मुंशी वंशीधरजी की श्रद्धा-भक्ति-पूर्वक प्रार्थना से अति सुगमतापूर्वक सुख से ब्रह्मतत्त्व जानने के लिये लिखा। प्रयोजन यह कि इसमें अति पवित्र, अतिगुप्त, सब विद्याओं में श्रेष्ठ ब्रह्मतत्त्व का निरूपण किया गया है। यह ग्रंथ आज द्वितीय ज्येष्ठ शुक्लपक्ष द्वितीया रविवार संवत् उन्नीस सौ पन्द्रह १९१५ में निर्मित होकर समाप्त हुआ। पढ़ने सुननेवालों को शान्ति हो,

शुभ हो, हरिः ॐ तत्सत्, हरिः ॐ तत्सत्, हरिः ॐ तत्सत्, श्रीकृष्णचन्द्राय नमोनमः ।

दशवाँ अध्याय समाप्त हुआ ।

मणि-रत्न-माला
अर्थात्
प्रश्नोत्तरी

अपारसंसारसमुद्रमध्ये
निमज्जतो मे शरणं किमस्ति।
गुरो कृपालो कृपया वदैत-
द्विश्वेशपादाम्बुजदीर्घनौका॥ १॥

शिष्य—हे कृपालु गुरु! कृपा-पूर्वक यह कहिये कि इस अपार संसार-रूपी समुद्र में डूबते हुए मुझको शरण क्या है? अर्थात् किस उपाय द्वारा संसार-सागर के पार उतर सकता हूँ?

गुरु—विश्व अर्थात् संसार ईश (स्वामी) जो ईश्वर, उनके चरण-कमल-रूपी दीर्घ (बड़ी) नौका (नाव) अर्थात् परमेश्वर के चरण-कमल की सेवा करने से ज्ञान की प्राप्ति और ज्ञान के द्वारा प्रत्येक मनुष्य संसार-सागर से पार उतर सकता है।

बद्धो हि को यो विषयानुरागी,
को वा विमुक्तो विषये विरक्तः।
को वास्ति घोरो नरकः स्वदेह-
स्तृष्णाक्षयः स्वर्गपदं किमस्ति॥ २॥

शिष्य—संसार में बँधा कौन है?

गुरु—जो विषयी है अर्थात् विषयों में अनुराग रखनेवाला है ।

शिष्य—विमुक्त कौन है ?

गुरु—जो विषयों से विरक्त है ।

शिष्य—घोर नरक कौन है ?

गुरु—अपना देह ।

शिष्य—स्वर्ग कौन है ?

गुरु—तृष्णा का नष्ट होजाना ।

संसारहृत्कः श्रुतिजात्मबोधः
को मोक्षहेतुः कथितः स एव ।
द्वारं किमेकं नरकस्य नारी
का स्वर्गदा प्राणभृतामहिंसा ॥ ३ ॥

शिष्य—संसार-नाशक कौन है ?

गुरु—वेद से उत्पन्न आत्मज्ञान ।

शिष्य—मोक्ष का हेतु कौन है ?

गुरु—वेदोत्पन्न आत्मबोध ।

शिष्य—नरक का द्वार क्या है ?

गुरु—स्त्री ।

शिष्य—प्राणियों को स्वर्ग देनेवाली वस्तु कौन है ?

गुरु—अहिंसा (जीवों का न मारना) ।

शेते सुखं कस्तु समाधिनिष्ठो
जागर्ति को वा सदसद्विवेकी ।
के शत्रवः सन्ति निजेन्द्रियाणि
तान्येव मित्राणि जितानि तानि ॥ ४ ॥

शिष्य—सुख-पूर्वक शयन कौन करता है ?

गुरु—जो समाधिनिष्ठ है ।

शिष्य—जागता कौन है ?

गुरु—जो सत् और असत् का विवेक करता है ।

शिष्य—शत्रु कौन हैं ?

गुरु—अपनी इन्द्रियाँ ।

शिष्य—मित्र कौन हैं ?

गुरु—जीती हुई अपनी इन्द्रियाँ ।

को वा दरिद्रो हि विशालतृष्णः
श्रीमांश्च को यस्य समस्ततोपः ।
जीवन्मृतः कस्तु निरुद्यमो यः
को वाऽमृतः स्यात्सुखदा निराशा ॥ ५ ॥

शिष्य—दरिद्री कौन है ?

गुरु—जो अधिक तृष्णावाला है ।

शिष्य—धनी कौन है ?

गुरु—जो संतोषी है ।

शिष्य—जीते हुए मृतक (मरा) कौन है ?

गुरु—जो निरुद्यमी (उद्यम-रहित) है ।

शिष्य—अमृत-समान सुख देनेवाला कौन है ?

गुरु—अमृत-समान सुख देनेवाली निराशा है ।

पाशो हि को यो ममताभिधानः
संमोहयत्येव सुरेव का स्त्री ।
को वा महान्धो मदनातुरो यो
मृत्युश्च को वाऽपयशः स्वकीयम् ॥ ६ ॥

शिष्य--संसार में बंधन क्या है?

गुरु--ममता।

शिष्य--मदिरा के समान मोहित करनेवाली कौन है?

गुरु--स्त्री मदिरा के समान मोहित करनेवाली है।

शिष्य--बड़ा अंधा कौन है?

गुरु--मदनातुर (काम-व्यथित)।

शिष्य--मृत्यु क्या है?

गुरु--अपना अपयश (अपकीर्ति)।

को वा गुरुर्यो हि हितोपदेष्टा
शिष्यस्तु को यो गुरुभक्त एव।
को दीर्घरोगो भव एव साधो
किमौषधं तस्य विचार एव॥ ७॥

शिष्य--गुरु कौन है?

गुरु--जो हित का उपदेश (शिक्षा) करे।

शिष्य--शिष्य कौन है?

गुरु--जो गुरु-भक्त हो।

शिष्य--हे साधो! बड़ा रोग क्या है?

गुरु--संसार।

शिष्य--उसकी औषध क्या है?

गुरु--परब्रह्म का विचार।

किं भूषणाद्भूषणमस्ति शीलं
तीर्थं परं किं स्वमनो विशुद्धम्।
किमत्र हेयं कनकं च कान्ता
श्राव्यं सदा किं गुरुवेदवाक्यम्॥ ८॥

शिष्य--सर्वोत्कृष्ट (सबसे उत्तम) आभूषण क्या है ?

गुरु--उत्तम स्वभाव।

शिष्य--सर्वोत्कृष्ट तीर्थ कौन है ?

गुरु--अपने मन की शुद्धता।

शिष्य--इस संसार में त्यागने-योग्य क्या है ?

गुरु--कनक (सुवर्ण) और कान्ता (स्त्री)।

शिष्य--निरंतर सुनने-योग्य क्या है ?

गुरु--गुरुओं और वेदों के वाक्य।

के हेतवो ब्रह्मगतेस्तु सन्ति
सत्संगतिर्दानविचारतोषाः।
के सन्ति सन्तोऽखिलवीतरागा
अपास्तमोहा शिवतत्त्वनिष्ठाः॥ ९॥

शिष्य--ब्रह्मगति अर्थात् परब्रह्म के मिलने में क्या-क्या कारण हैं?

गुरु--सज्जनों की संगति, दान, विचार और संतोष।

शिष्य--सज्जन कौन हैं ?

गुरु--सबमें प्रीति और मोह से रहित एवं ब्रह्म-विचार में निष्ठावाले।

को वा ज्वरः प्राणभृतां हि चिन्ता
मूर्खोऽस्ति को यस्तु विवेकहीनः।
कार्या प्रिया का शिवविष्णुभक्तिः
किं जीवनं दोषविवर्जितं यत्॥१०॥

शिष्य--प्राणीमात्र अर्थात् समस्त जीवों का ज्वर क्या है ?

गुरु--चिन्ता अर्थात् मानसिक पीड़ा।

शिष्य—मूर्ख कौन है ?

गुरु—जो विवेक से हीन है ।

शिष्य—करने योग्य प्रिय क्या है ?

गुरु—शिव और विष्णु की भक्ति ।

शिष्य—उत्तम जीवन कौन है ?

गुरु—जो दोष-रहित हो ।

विद्या हि का ब्रह्मगतिप्रदा या
बोधो हि को यस्तु विमुक्तिहेतुः ।
को लाभ आत्मावगमो हि यो वै
जितं जगत् केन मनो हि येन ॥ ११ ॥

शिष्य—विद्या कौन है ?

गुरु—जो ब्रह्मगति को प्राप्त करे ।

शिष्य—बोध कौन है ?

गुरु—जो मुक्ति का कारण है ।

शिष्य—लाभ क्या है ?

गुरु—आत्मा की प्राप्ति ।

शिष्य—जगत् किसने जीता है ?

गुरु—जिसने मन को जीता है ।

शूरान्महाशूरतमोऽस्ति को वा
मनोजवाणैर्व्यथितो न यस्तु ।
प्राज्ञोऽतिधीरश्च समोऽस्ति को वा
प्राप्तो न मोहं ललनाकटाक्षैः ॥ १२ ॥

शिष्य—शूर-वीरों से भी अधिक शूर-वीर कौन है ?

गुरु—जो काम से पीड़ित न हो।

शिष्य—प्राज्ञ, अतिधीर और समदर्शी कौन है ?

गुरु—जो स्त्री के कटाक्षों से मोहित न हो।

विषाद्विषं किं विषयाः समस्ता,
दुःखी सदा को विषयानुरागी।
धन्योऽस्ति को यस्तु परोपकारी,
कः पूजनीयः शिवतत्त्वनिष्ठः॥ १३॥

शिष्य—विष से भी अधिक प्रबल विष क्या है ?

गुरु—समस्त विषय।

शिष्य—निरंतर दुःखी कौन है ?

गुरु—विषयों में प्रीति करनेवाला।

शिष्य—संसार में धन्य कौन है ?

गुरु—जो परोपकारी है।

शिष्य—पूजा के योग्य कौन है ?

गुरु—जो ब्रह्म-तत्त्व में निष्ठावाला है।

सर्वास्ववस्थास्वपि किं न कार्यं
किं वा विधेयं विदुषा प्रयत्नात्।
स्नेहश्च पापं पठनं च धर्मः,
संसारमूलं हि किमस्ति चिन्ता॥ १४॥

शिष्य—सब अवस्थाओं में क्या न करना चाहिए ?

गुरु—स्नेह अर्थात् प्रीति और पाप।

शिष्य—विद्वानों को प्रयत्नपूर्वक क्या करना चाहिए ?

गुरु—ब्रह्म-विद्या का अध्ययन (पठन) और धर्म।

शिष्य—संसार का मूल क्या है ?

गुरु—चिन्ता ।

विज्ञान्महाविज्ञतमोऽस्ति को वा,
नार्या पिशाच्या न च वञ्चितो यः ।
का शृंखला प्राणभृतां हि नारी,
दिव्यं व्रतं किं च निरस्तदैन्यम् ॥ १५ ॥

शिष्य—ज्ञानी से भी बड़ा ज्ञानी कौन है ?

गुरु—जो पिशाचीरूपा स्त्री से वंचित नहीं हुआ ।

शिष्य—सब प्राणियों का बंधन क्या है ?

गुरु—स्त्री ।

शिष्य—दिव्य व्रत कौन है ?

गुरु—दीनता का बर्ताव न होना ।

ज्ञातुं न शक्यं हि किमस्ति सर्वै-
र्योषिन्मनो यच्चरितं तदीयम् ।
का दुस्त्यजा सर्वजनैर्दुराशा,
विद्याविहीनः पशुरस्ति को वा ॥ १६ ॥

शिष्य—सब मनुष्यों से जानने-योग्य क्या नहीं है ?

गुरु—स्त्री का मन और उसका चरित्र ।

शिष्य—सबको दुःख से त्यागने-योग्य क्या है ?

गुरु—स्त्री, धन आदि क्षणभंगुर पदार्थ-संबंधिनी दुराशा ।

शिष्य—संसार में पशु कौन है ?

गुरु—विद्या-विहीन अर्थात् मूर्ख ।

वासो न संगः सह कैर्विधेयो,
मूर्खैश्च पापैश्च खलैश्च नीचैः ।

मुमुक्षुणा किं त्वरितं विधेयं,
सत्संगतिर्निर्ममतेशभक्तिः ॥ १७ ॥

शिष्य—किन मनुष्यों के साथ वास और संग न करना चाहिए ?

गुरु—मूर्ख, पापी, खल और नीच इनका साथ न करना चाहिए।

शिष्य—मोक्ष चाहनेवाले को शीघ्र क्या करना चाहिए ?

गुरु—सत्पुरुषों की संगति, निर्ममता (ममता न होना) और परमेश्वर की भक्ति।

लघुत्वमूलं च किमर्थितैव,
गुरुत्वमूलं यदयाचनं च।
जातो हि को यस्य पुनर्न जन्म,
को वा मृतो यस्य पुनर्न मृत्युः ॥ १८ ॥

शिष्य—हलकापन का कारण क्या है ?

गुरु—माँगना।

शिष्य—महत्ता (बड़ाई) का कारण क्या है ?

गुरु—न माँगना।

शिष्य—उत्पन्न (पैदा) कौन हुआ ?

गुरु—जिसका पुनर्जन्म न हो।

शिष्य—मृतक कौन है ?

गुरु—जिसकी पुनः मृत्यु न हो।

मूकोऽस्ति को वा बधिरश्च को वा,
युक्तं न वक्तुं समये समर्थः।
तथ्यं सुपथ्यं न शृणोति वाक्यं,
विश्वासपात्रं न किमस्ति नारी ॥ १९ ॥

शिष्य—संसार में गूँगा कौन है ?

गुरु—जो समयानुसार योग्य वचन न कह सके ।

शिष्य—बधिर (बहरा) कौन है ?

गुरु—जो सच्चे हितकर वचन न सुने ।

शिष्य—विश्वास-पात्र कौन नहीं है ?

गुरु—स्त्री ।

तत्त्वं किमेकं शिवमद्वितीयं ,
किमुत्तमं सच्चरितं यदस्ति ।
किं कर्म कृत्वा न च शोचनीयं ,
कामारिकंसारिसमर्चनाख्यम् ॥ २० ॥

शिष्य—एक तत्त्व क्या है ?

गुरु—अद्वितीय शिव-तत्त्व ।

शिष्य—संसार में उत्तम क्या है ?

गुरु—अच्छा आचरण होना ।

शिष्य—किस कर्म के करने से शोक नहीं होता है ?

गुरु—शिव और कृष्ण की सेवा करने से ।

शत्रोर्महाशत्रुतमोऽस्ति को वा ,
कामः सकोपानृतलोभतृष्णः ।
न पूर्यते को विषयैः स एव ,
किं दुःखमूलं ममताभिधानम् ॥ २१ ॥

शिष्य—संसार में सबसे बड़ा शत्रु कौन है ?

गुरु—क्रोध, असत्य, लोभ और तृष्णा-सहित काम ।

शिष्य—विषयों से कौन तृप्त नहीं होता है ?

गुरु—पूर्वोक्त काम।

शिष्य—दुःख का मूल क्या है?

गुरु—ममता।

किं मण्डनं साक्षरता मुखस्य,
सत्यं च किं भूतहितं सदैव।
त्याज्यं सुखं किं स्त्रियमेव सम्यक्,
देयं परं किं त्वभयं सदैव॥ २२॥

शिष्य—मुख की शोभा क्या है?

गुरु—साक्षरता (विद्वान् होना)।

शिष्य—संसार में सत्य क्या है?

गुरु—जिससे सबका हित हो।

शिष्य—त्यागने-योग्य सुख कौन है?

गुरु—भलीभाँति स्त्री का परित्याग।

शिष्य—उत्तम दान कौन है?

गुरु—निरंतर अभय-दान।

कस्यास्ति नाशे मनसो हि मोक्षः,
क सर्वथा नास्ति भयं विमुक्तौ।
शल्यं परं किं निजमूर्खतैव,
के के ह्युपास्या गुरवश्च वृद्धाः॥ २३॥

शिष्य—किसके नाश होने से मोक्ष होता है?

गुरु—मन की चंचलता के नाश होजाने से।

शिष्य—सर्वथा भय कहाँ नहीं है?

गुरु—मुक्ति में।

शिष्य—बड़ा दुःख क्या है ?

गुरु—अपनी मूर्खता।

शिष्य—सेवा के योग्य कौन हैं ?

गुरु—गुरुजन और वृद्ध।

उपस्थिते प्राणहरे कृतान्ते,
किमाशु कार्यं सुधिया प्रयत्नात्।
वाक्कायचित्तैः सुखदं यमघ्नं,
मुरारिपादाम्बुजमेव चिन्त्यम् ॥ २४ ॥

शिष्य—बुद्धिमानों को प्राणांत-समय यत्न-पूर्वक क्या करना चाहिए?

गुरु—वाणी, शरीर और चित्त द्वारा सुख-दायक और यम-नाशक श्रीभगवान्‌जी के चरण-कमलों का चिंतन।

के दस्यवः सन्ति कुवासनाख्याः,
कः शोभते यः सदसि प्रविद्यः।
मातेव का या सुखदा सुविद्या,
किमेधते दानवशात्सुविद्या ॥ २५ ॥

शिष्य—संसार में लुटेरे कौन हैं ?

गुरु—कुवासना (मलिन वासना)।

शिष्य—सभा में कौन शोभित होता है ?

गुरु—उत्तम विद्यावाला अर्थात् महाविद्वान्।

शिष्य—माता के सदृश सुख देनेवाली कौन है ?

गुरु—उत्तम विद्या।

शिष्य—दान करने से किसकी वृद्धि होती है ?

गुरु—उत्तम विद्या की।

कुतो हि भीतिः सततं विधेया,
लोकापवादाद्भवकाननाच्च ।
को वास्ति बन्धुः पितरौ च कौ वा,
विपत्सहायः परिपालकौ यौ ॥ २६ ॥

शिष्य—किससे निरंतर भय करना चाहिए ?
गुरु—लोकापवाद और संसार-रूप वन से ।
शिष्य—बंधु कौन है ?
गुरु—जो विपत्ति के समय में सहायता करे ।
शिष्य—माता-पिता कौन हैं ?
गुरु—जो पालन-पोषण करें ।

बुद्ध्या न बोद्धुं परिशिष्यते किं,
शिवं प्रशान्तं सुखबोधरूपम् ।
ज्ञाते तु कस्मिन् विदितं जगत्स्यात्,
सर्वात्मके ब्रह्मणि पूर्णरूपे ॥ २७ ॥

शिष्य—जिसको जानकर कोई वस्तु जानने को न रहे, ऐसी कौन वस्तु है ?
गुरु—सुख और बोध-रूप एवं शांत-स्वरूप शिव-तत्त्व ।
शिष्य—किसके जानने से समस्त जगत् का ज्ञान हो जाता है ?
गुरु—सर्वात्मक एवं सर्वत्र पूर्ण परब्रह्म के जानने से ।

किं दुर्लभं सद्गुरुरस्ति लोके,
सत्सङ्गतिर्ब्रह्मविचारणा च ।
त्यागो हि सर्वस्य शिवात्मबोधः,
को दुर्जनः सर्वजनैर्मनोजः ॥ २८ ॥

शिष्य—संसार में दुर्लभ वस्तु क्या है ?

गुरु—सद्गुरु, सत्संगति और ब्रह्म-विचार ।

शिष्य—सबके त्याग का हेतु कौन है ?

गुरु—कल्याण-रूप आत्म-ज्ञान ।

शिष्य—दुःख से जीतने-योग्य कौन है ?

गुरु—मनोज अर्थात् कामदेव ।

पशोः पशुः को न करोति धर्मं,
प्राधीत शास्त्रोऽपि न चात्मबोधः ।
किं तद्विषं भाति सुधोपमं स्त्री ,
के शत्रवो मित्रवदात्मजाद्याः ॥ २६ ॥

शिष्य—संसार में सबसे बड़ा पशु कौन है ?

गुरु—जो शास्त्र को पढ़कर भी धर्म नहीं करता एवं आत्म-ज्ञानी भी न हो ।

शिष्य—अमृत के सदृश विष क्या है ?

गुरु—स्त्री ।

शिष्य—मित्र के सदृश शत्रु कौन है ?

गुरु—पुत्र आदि ।

विद्युच्चलं किं धनयौवनायु-
र्दानं परं किं च सुपात्रदत्तम् ।
कण्ठं गतैरप्यसुभिर्न कार्यं,
किं किं विधेयं मलिनं शिवार्चा ॥ ३०

शिष्य—विद्युत् (बिजली) के सदृश चंचल कौन है ?

गुरु—धन, युवावस्था और आयु ।

शिष्य—उत्तम दान कौन है ?

गुरु—जो सुपात्र को दिया जाय।

शिष्य—कंठ-गत प्राण होने पर भी क्या न करना चाहिए ?

गुरु—पाप कर्म।

शिष्य—कंठ-गत प्राण होने पर क्या करना चाहिए ?

गुरु—शिवार्चन (शिव-पूजा)

किं कर्म यत्प्रीतिकरं मुरारेः
क्वास्था न कार्या सततं भवाब्धौ ।
अहर्निशं किं परिचिन्तनीयं,
संसारमिथ्यात्वशिवात्मतत्त्वम् ॥ ३१ ॥

शिष्य—कर्म कौन है ?

गुरु—जिससे मुरारि भगवान् में प्रीति उत्पन्न हो।

शिष्य—कहाँ निरंतर विश्वास न करना चाहिए ?

गुरु—संसार-सागर में।

शिष्य—रात-दिन क्या विचार करना चाहिए ?

गुरु—संसार का मिथ्यापन और कल्याण-रूप आत्म-तत्त्व।

कण्ठं गता वा श्रवणं गता वा
प्रश्नोत्तराख्या मणिरत्नमाला ।
तनोतु मोदं विदुषां सुरम्यं
रमेशगौरीशकथेव सद्यः ॥ ३२ ॥

इस प्रश्नोत्तराख्या 'मणि-रत्न-माला' के कंठ पाठ करने से किंवा सुनने से विद्वान् लोगों को विष्णु और शिव की कथा के सदृश अति आनंद प्राप्त हो।

प्रश्नोत्तराख्या मणि-रत्न-माला समाप्ता।

चुने हुए पञ्चदशी के श्लोक

ऐहिकामुष्मिकव्रातसिद्ध्यै मुक्तेश्च सिद्धये।
बहुकृत्यं पुराऽस्याभूत्तत्सर्वमधुना कृतम् ॥ १ ॥

पहिले अज्ञान-दशा में इस मुमुक्षु का इस लोक और परलोक के बहुत पदार्थों की सिद्धि के लिये बहुत कृत्य था, वह सब इस समय ज्ञान-दशा में कर लिया गया ॥ १ ॥

तदेतत्कृतकृत्यत्वं प्रतियोगि पुरःसरम्।
अनुसंदधदेवायमेवं तृप्यति नित्यशः ॥ २ ॥

वही यह कृतकृत्यता है जोकि अपने प्रतियोगी (ज्ञानी अथवा मुमुक्षु) के आगे वर्णन करता हुआ ही यह ज्ञानी सदैव इस प्रकार तृप्त रहता है ॥ २ ॥

दुःखिनोऽज्ञाः संसरन्तु कामं पुत्राद्यपेक्षया।
परमानन्दपूर्णोऽहं संसरामि किमिच्छया ॥ ३ ॥

दुःखी, अज्ञानी लोग पुत्र आदि की इच्छा से यथेष्ट संसारी होवें (जन्म-मरण को प्राप्त हों), परम आनंद से पूर्ण मैं किसकी इच्छा से संसारी होऊँ ? ॥ ३ ॥

अनुतिष्ठन्तु कर्माणि परलोकयियासवः।
सर्वलोकात्मकः कस्मादनुतिष्ठामि किं कथम् ॥ ४ ॥

परलोक में जाने की इच्छावाले कर्मों का अनुष्ठान करें; सब लोकों की आत्मारूप मैं किस कारण से कैसे किसका अनुष्ठान

करूं ? अर्थात् कर्ता, कर्म, करण आदि सर्वात्मरूप मैं हूँ ? तब कौन किसको किससे करे ? ॥ ४ ॥

व्याचक्षतां ते शास्त्राणि वेदानध्यापयन्तु वा ।
येऽत्राधिकारिणो मे तु नाधिकारोऽक्रियत्वतः ॥ ५ ॥

जो लोग इसमें अधिकारी हैं, वे शास्त्रों का व्याख्यान करें और वेदों को पढ़ावें; मेरा अधिकार तो अक्रियापन से नहीं है ॥ ५ ॥

निद्राभिक्षे स्नानशौचे नेच्छामि न करोमि च ।
द्रष्टारश्चेत्कल्पयन्ति किं मे स्यादन्यकल्पनात् ॥ ६ ॥

नींद, भीख, स्नान, शौच की न इच्छा है और न करता हूँ, यदि देखनेवाले कल्पना करें, तो दूसरों की कल्पना से मेरा क्या है ॥ ६ ॥

गुंजापुंजादि दह्येत नान्यारोपितवह्निना ।
नान्यारोपितसंसारधर्मानेवमहं भजे ॥ ७ ॥

दूसरों के द्वारा अग्नि मान लेने से चिरमिटी का ढेर नहीं जला सकता है, इसी प्रकार मैं दूसरों के द्वारा मान लिए गये संसारी धर्मों को नहीं सेवन करता हूँ ॥ ७ ॥

शृण्वन्त्वज्ञाततत्त्वास्ते जानन् कस्माच्छृणोम्यहम् ।
मन्यन्तां संशयापन्ना न मन्येऽहमसंशयः ॥ ८ ॥

वे बिना तत्त्वज्ञानवाले मनुष्य शास्त्रों को सुनें, मैं जानता हुआ किस कारण से सुनूँ ? संदेह करनेवाले शास्त्रों का मनन करें, संदेह-रहित मैं नहीं मनन करता हूँ ॥ ८ ॥

विपर्यस्तो निदिध्यासेत्किं ध्यानमविपर्यये ।
देहात्मत्वविपर्यासं न कदाचिद्भजाम्यहम् ॥ ९ ॥

उलटे भ्रमवाले स्मरण करें, विना विपरीत ज्ञान में ध्यान ही क्या ? मैं देह और आत्मा के विपरीत ज्ञान को कभी नहीं सेवन करता हूँ ॥ ९ ॥

अहं मनुष्य इत्यादिव्यवहारो विनाप्ययम् ।
विपर्यासं चिराभ्यस्तवासनातोऽवकल्पते ॥ १० ॥

किंतु इस उलटे ज्ञान के विना भी (मैं मनुष्य हूँ) इत्यादि व्यवहार बहुत समय के अभ्यास की वासना से मान लिया जासकता है ॥ १० ॥

आरब्धकर्मणि क्षीणे व्यवहारो निवर्तते ।
कर्माक्षये त्वसौ नैव शाम्येद्ध्यानसहस्रतः ॥ ११ ॥

क्योंकि प्रारब्ध-कर्म के नष्ट होने पर ही व्यवहार दूर होता है, कर्मों के विना नष्ट हुए, तो यह व्यवहार हजारों ध्यान से भी नहीं शांत होता है ॥ ११ ॥

विरलत्वं व्यवहृतेरिष्टं चेद्ध्यानमस्तु ते ।
अबाधिकां व्यवहृतिं पश्यन्ध्यायाम्यहं कुतः ॥ १२ ॥

यदि व्यवहार की कमी करना इष्ट है, तो तुम्हारा ध्यान होवे; मैं लोक-व्यवहार को अबाधक देखता हुआ क्यों ध्यान करूँ ॥ १२ ॥

विक्षेपो नास्ति यस्मान्मे न समाधिस्ततो मम ।
विक्षेपो वा समाधिर्वा मनसः स्याद्विकारिणः ॥ १३ ॥

जिस कारण से मेरे विक्षेप नहीं है, उस कारण मेरी समाधि नहीं होती है । विक्षेप और समाधि विकारवाले मन के हैं ॥ १३ ॥

नित्यानुभवरूपस्य को मेऽत्रानुभवः पृथक्।
कृतं कृत्यं प्रापणीयं प्राप्तमित्येव निश्चयः॥ १४॥

नित्य ज्ञान-रूप मेरा जुदा होना इसमें अनुभव क्या? करने-योग्य कर लिया, मिलने-योग्य मिल गया, इस प्रकार मेरा निश्चय है॥ १४॥

व्यवहारो लौकिको वा शास्त्रीयो वान्यथापि वा।
ममाकर्तुरलेपस्य यथाऽऽरब्धं प्रवर्तताम्॥ १५॥

अकर्ता, निर्लेप-रूप मेरा व्यवहार लौकिक और शास्त्रीय एवं दूसरा निषिद्ध भी जैसा प्रारब्ध हो, विद्यमान रहे॥ १५॥

अथवा कृतकृत्योऽपि लोकानुग्रहकाम्यया।
शास्त्रीयेणैव मार्गेण वर्तेऽहं का मम क्षतिः॥ १६॥

अथवा कृतकृत्य भी मैं लोकों पर कृपा करने की इच्छा से शास्त्रीय रीति से ही वर्ताव करूँ, तो मेरी हानि ही क्या?॥ १६॥

देवार्चनस्नानशौचभिक्षादौ वर्ततां वपुः।
तारं जपतु वाक् तद्वत्पठत्वाम्नायमस्तकम्॥१७॥

देवों की पूजा करना, स्नान, शौच, भिक्षा आदि में देह लगी रहे; वाणी प्रणव (ॐ) को जप करे; वैसे ही उपनिषद् को पढ़े॥ १७॥

विष्णुं ध्यायतु धीर्यद्वा ब्रह्मानन्दे विलीयताम्।
साक्ष्यहं किंचिदप्यत्र न कुर्वे नापि कारये॥ १८॥

बुद्धि विष्णु का स्मरण करे अथवा ब्रह्मानंद में मग्न रहे; मैं सबका साक्षी हूँ, इसमें कुछ भी न करता हूँ न कराता ही हूँ॥ १८॥

कृतकृत्यतया तृप्तः प्राप्तप्राप्यतया पुनः ।
तृप्यन्नेवं स्वमनसा मन्यतेऽसौ निरन्तरम् ॥ १९ ॥

कृतकृत्यता से और प्राप्त-प्राप्यता से तृप्त हुआ यह ज्ञानी अपने मन से फिर सदैव इस प्रकार तृप्त हुआ मानता है ॥ १९ ॥

धन्योऽहं धन्योऽहं नित्यं स्वात्मानमंजसा वेद्मि ।
धन्योऽहं धन्योऽहंब्रह्मानन्दो विभाति मे स्पष्टम् ॥ २० ॥

वारंवार अपनी आत्मा को सदैव जानता हूँ, मैं धन्य हूँ, मैं धन्य हूँ। मेरा ब्रह्मानंद स्पष्ट प्रकाशित है, मैं धन्य हूँ, मैं धन्य हूँ ॥ २० ॥

धन्योऽहं धन्योऽहं दुःखं सांसारिकं न वीक्षेऽद्य ।
धन्योऽहंधन्योऽहंस्वस्याज्ञानं पलायितं क्वापि ॥ २१ ॥

इस समय संसारी दुःख को नहीं देखता हूँ, मैं धन्य हूँ, मैं धन्य हूँ। मेरा अज्ञान कहीं भाग गया, मैं धन्य हूँ, मैं धन्य हूँ ॥ २१ ॥

धन्योऽहं धन्योऽहं कर्तव्यं मे न विद्यते किञ्चित् ।
धन्योऽहं धन्योऽहं प्राप्तव्यं सर्वमद्य संपन्नम् ॥ २२ ॥

मेरा कर्तव्य कुछ भी नहीं मौजूद है, मैं धन्य हूँ, मैं धन्य हूँ। इस समय सब प्राप्त होने-योग्य संपन्न है, मैं धन्य हूँ, मैं धन्य हूँ ॥ २२ ॥

धन्योऽहं धन्योऽहं तृप्तेर्मे कोपमा भवेल्लोके ।
धन्योऽहंधन्योऽहंधन्यो धन्यः पुनःपुनर्धन्यः ॥ २३ ॥

संसार में तृप्ति को प्राप्त हुए मेरे बराबर कौन है, मैं धन्य हूँ, मैं धन्य हूँ, मैं धन्य हूँ, मैं धन्य हूँ, मैं धन्य हूँ, मैं धन्य हूँ, वारंवार धन्य हूँ ॥ २३ ॥

अहो पुण्यमहो पुण्यं फलितं फलितं दृढम्।
अस्य पुण्यस्य संपत्तेरहो वयमहो वयम् ॥ २४ ॥

पुण्य आश्चर्य है, पुण्य आश्चर्य है, फलित दृढता-पूर्वक फलित हुआ, इस पुण्य की संपत्ति से हमलोग बड़े भाग्यवान् हैं, हम लोग बड़े भाग्यवान् हैं ॥ २४ ॥

अहो शास्त्रमहो शास्त्रमहो गुरुरहो गुरुः।
अहो ज्ञानमहो ज्ञानमहो सुखमहो सुखम् ॥ २५ ॥

शास्त्र आश्चर्य है, शास्त्र आश्चर्य है, गुरु आश्चर्य है, ज्ञान आश्चर्य है, ज्ञान आश्चर्य है, सुख आश्चर्य है, सुख आश्चर्य है ॥ २५ ॥

इत्यलम्।